सन्मति साहित्य रत्नमाला का ९९वाँ ग्रन्थ रत्न

पुस्तक .
सूक्ति त्रिवेणी
(तृतीय खण्ड, वैदिक धारा)

संपादक :
उपाध्याय अमरमुनि

विषय
वैदिक साहित्य की सूक्तियां

पुस्तक पृष्ठ :
तीन सौ चौवालीस

प्रथम प्रकाशन .
३० जून १९६८

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञान पीठ,
लोहामण्डी, आगरा-२

दस रुपए

मुद्रक
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस,
राजा की मण्डी, आगरा-२

प्रकाशकीय

चिर अभिलषित, चिर प्रतीक्षित सूक्तित्रिवेणी का सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण सकलन अपने प्रिय पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम अपने को गौरवान्वित अनुभव करते है।

जैन जगत के बहुश्रुत मनीषी उपाध्याय श्री अमर मुनि जी महाराज की चिन्तन एव गवेषणापूर्ण लेखिनी से वर्तमान का जैन समाज ही नही, अपितु भारतीय सस्कृति और दर्शन का प्राय प्रत्येक प्रबुद्ध जिज्ञासु प्रत्यक्ष किंवा परोक्ष रूप से सुपरिचित है।

निरन्तर बढती जाती वृद्धावस्था, साथ ही अस्वस्थता के कारण उनका शरीरबल क्षीण हो रहा है, किन्तु जब प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन मे वे आठ-आठ दस-दस घण्टा सतत सलग्न रहे है, पुस्तको के ढेर के बीच खोए रहे है, तब लगा कि उपाध्याय श्री जी अभी युवा है, उनकी साहित्य-श्रुत-साधना अभी भी वैसी ही तीव्र है, जैसी कि निशीथभाष्य चूर्णि के सम्पादनकाल मे देखी गई थी।

'सूक्ति त्रिवेणी' सूक्ति और सुभाषितो के क्षेत्र मे अपने साथ एक नवीन युग का शुभारम्भ लेकर आ रही है। प्राचीनतम सम्पूर्ण भारतीय वाड्मय मे से इस प्रकार के तुलनात्मक एवं अनुशीलनपूर्ण मौलिक सूक्तिसग्रह का अब तक के भारतीय साहित्य मे प्राय अभाव-सा ही था। प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा उस अभाव की पूर्ति के साथ ही सूक्ति साहित्य मे एक नई दृष्टि और नई शैली का प्रारम्भ भी हो रहा है।

इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक का प्रकाशन एक ऐसे शुभ अवसर के उपलक्ष्य मे हो रहा है, जो समग्र भारतीय जैन समाज के लिए गौरवपूर्ण अवसर है। श्रमण भगवान महावीर की पच्चीस-सौ वी निर्वाण तिथि मनाने के सामूहिक प्रयत्न वर्तमान में बडी तीव्रता के साथ चल रहे है। विविध प्रकार के साहित्यप्रकाशन की योजनाएँ

भी बन रही है। सन्मति ज्ञान पीठ अपनी विशुद्ध परम्परा के अनुरूप इस प्रकार के सांस्कृतिक प्रकाशनों की दिशा मे प्रारम्भ से ही सचेष्ट रहा है तथा वर्तमान के इस पुनीत अवसर पर वह और भी अधिक तीव्रता के साथ सक्रिय है। सूक्ति त्रिवेणी का यह महत्त्वपूर्ण प्रकाशन इस अवसर पर हमारा पहला श्रद्धास्निग्ध उपहार है।

सूक्तित्रिवेणी की तीनो धाराएँ सयुक्त जिल्द में काफी बड़ी हो जाती है। अत: पाठको की विभिन्न रुचि एव सुविधा को ध्यान मे रखते हुए सयुक्त रूप मे, इसे अलग-अलग खण्डो मे भी प्रकाशित किया गया है। तदनुसार 'जैन धारा' एवं 'बौद्ध धारा' के रूप मे प्रथम व द्वितीय खण्ड पाटको की सेवा मे काफी समय हुआ पहुच चुके है। 'वेदिक धारा' के रूप में यह तृतीय खण्ड भी अपने प्रिय पाठको के समक्ष हम प्रस्तुत कर रहे है। इस खण्ड मे 'वेदिक धारा' की विषयानुक्रमणिका भी परिशिष्ट मे दे दी गई है, जिससे पाठको को विषयवार सूक्तिया देखने में सरलता व सुविधा रहेगी।

हमे प्रसन्नता है कि 'सूक्ति त्रिवेणी' की जितनी उपयोगिता अनुभव की जा रही थी, उससे भी कही अधिक आशाप्रद और उत्साहजनक मत-सम्मत हमे स्वत. ही सब ओर से प्राप्त हो रहे हैं।

—मंत्री
सन्मति ज्ञान पीठ

संपादकीय

इस सचाई से इन्कार नही किया जा सकता कि उपलब्ध भारतीय वाङ्मय मे सर्वाधिक प्राचीन एवं विशाल वैदिक वाङ्मय, भारतीय जीवन दर्शन एवं चिन्तन की समग्रता का प्रतीक है। वैदिक वाङ्मय में भी जीवन के भौतिक धरातल से लेकर अध्यात्म की गगनचुम्बिनी ऊँचाई तक को समग्र रूप से स्पर्श करनेवाली चिन्तन-स्फुरणा यत्र तत्र उच्छवसित होती हुई मिलती है।

ऋग्वेद से लेकर स्मृतिकाल तक का दर्शन-चिन्तन जीवन के विविध परिपार्श्वो को नवस्फूर्ति एवं नवचैतन्य से प्रबुद्ध करता हुआ जीवन मे उल्लास, उत्साह, सत्सकल्प एवं कर्मयोग की स्फुरणा जागृत करता है, तो वैराग्य एवं अध्यात्म की दिव्य ज्योति भी प्रज्वलित करता है। नीति, मर्यादा और अनुभव की ऐसी बहुमूल्य मणिया सहृदय पाठक के हाथो मे सहज भाव से उपलब्ध हो जाती है, जो मानवजीवन के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकती हैं।

जैनसाहित्य की सूक्तियों को संकलित करते समय बार-बार मन करता था कि वैदिकसाहित्य के विशाल एवं सर्वग्राही सूक्तिकोष का भी एक अच्छा-सा संकलन किया जाना चाहिए। हृदय में स्फुरणा जगी, मन संकलपशील हुआ, बुद्धि कार्य मे जुट गई। कुछ इधर-उधर से प्रकाशित सुभापित सग्रहो की पुस्तके भी टटोली, पर मन तृप्त नही हुआ। तृप्त क्या, कुछ और अधिक अतृप्त वन गया। अध्ययन-शील पाठको ने कुछ सग्रह प्रकाशित किए हैं, पर कोई वेदो के अमुक अंशो तक ही आकर रुक गया। कोई उपनिषदो के तत्त्व ज्ञान में ही उलझ गया। कोई महाभारत और कोई गीता की सूक्तियो में ही आकण्ठ निमग्न हो गया। स्थिति यह थी कि वेदों के चिन्तन एव दर्शन की पुनीत धारा, जो ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् के बहुस्पर्शी परिपार्श्वों को छूती हुई महाभारत एव गीता मे प्रकट हुई है, उसके

समग्र दर्शन और मौलिक चिंतन पर प्रकाश विकीर्ण करने जैसा कोई भी उपयुक्त संग्रह मेरी दृष्टि मे नही आया। इस कारण तृप्ति चाहने वाला मन और अधिक अतृप्त हो उठा। और यही अतृप्ति इस सूक्ति-सकलन की मूल प्रेरणा बनी।

सूक्ति सकलन करते समय प्रत्येक मूल ग्रन्थ का अनुशीलन करने की मेरी दृष्टि रही है। इस कारण सकलन मे श्रम व समय तो बहुत अधिक लगा, पर संतोष है कि उसमे मेरी ओर से किसी प्रकार के प्रमाद, अप्रामाणिकता एवं उपेक्षणीयता की शिकायत नही होगी। वेदो की सूक्तियों का सग्रह एव अनुवाद करते समय मेरे समक्ष आचार्य सायण एव उव्वट जैसे समर्थ भाष्यकारो के भाष्य खुले रहे है। ब्राह्मण एव आरण्यक साहित्य, जिसके कि नवीन शुद्ध सस्करण उपलब्ध होने भी कठिन है, मैंने उनके भारत तथा विदेशो में प्रकाशित प्राचीन सस्करणो को आधार बनाया तथा अनुवाद में भी भाष्यकार की भावना का स्पर्श लेकर चला। उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियां, दर्शन, गृह्यसूत्र एवं शंकराचार्य के कुछ विशेष ग्रन्थों तक यह सकलन सम्पूर्ण हुआ है।

उत्तरवर्त्ती काव्य साहित्य की सूक्तियो का प्रश्न भी सामने आया, पर इस सम्बन्ध मे मैं अपनी दृष्टि को प्रारम्भ मे ही स्पष्ट करके चला था कि धार्मिक, नैतिक एव दार्शनिक साहित्य की सूक्तिया ही संकलित की जाएँ। दूसरे वह साहित्य काफी विशाल एव व्यापक भी था, काल क्रम की दृष्टि से भी हम जैनधारा एव बौद्धधारा मे जहा तक प्रतिबद्ध रहे, उससे अधिक आगे जाने का संकल्प भी नही था। इन कुछ कारणो से काव्य-काल की सूक्तियाँ छोड़ दी गईं। फिर भी इस संग्रह में लगभग सोलह सौ सूक्तियां सकलित हो गई है।

सूक्तिसंकलन के बहाने वैदिक साहित्य के अनेको महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अध्ययन, अनुशीलन एवं पर्यालोचना का यह स्वर्ण प्रसग पाठकों के लिए ही नहीं, मेरी ज्ञान चेतना के लिए भी लाभकारी सिद्ध हुआ है। भारतीय इतिहास की जीवन-परम्परा के बहुत से अस्पष्ट एव चिन्तनीय स्थल इस अनुशीलन मे एक नई दृष्टि से स्पष्ट तथा विशिष्ट

अर्थ ध्वनि से अभिव्यंजित हुए है। अनुवाद-शैली में मैंने विशेष दृष्टि रखी है—ग्रन्थ का मूल आशय, आचार्यों के अधिकृत प्राचीन भाष्यों की भावना का स्पश करके व्यक्त किया जाए, तथा जहा अपनी दृष्टि अपेक्षित हो उसे कोष्ठक आदि द्वारा सूचित कर दिया जाए।

कुछ जिज्ञासु पाठको की मांग थी कि ग्रन्थ की उपयोगिता की दृष्टि से पुस्तक की विषयानुक्रमणिका भी साथ मे होनी चाहिए। मुझे भी यह सुझाव उपयोगी एव आवश्यक लगा। इसलिए ग्रन्थ सकलन मे सतत सहयोगी रहने वाले उत्साही युवक श्रीचन्द सुराना 'सरस' ने श्रमपूर्वक विषयानुक्रमणिका भी तैयार करदी। प्राचीन ग्रथो के श्रेष्ठ सग्रहालय श्री चिरंजीव पुस्तकालय, आगरा का भी इस संकलन मे बहुत सहयोग रहा है। वेदो के भाष्य, आरण्यक एवं ब्राह्मण ग्रन्थो की महत्त्वपूर्ण पुस्तके इसी पुस्तकालय से प्राप्त हो सकी हैं। इस प्रकार ज्ञात-अज्ञात अनेक सहयोगो के साथ स्वास्थ्य अनुकूल न रहते हुए भी वैदिक धारा का यह तीसरा खण्ड पाठको के समक्ष प्रस्तुत है।

यो तो मैं अपने कर्त्तव्य मे ही आत्म-तुष्टि का भाव रखता हू। इधर उधर की प्रशंसा एव प्रशस्ति में मुझे विश्वास नही जैसा है। फिर भी सूक्तिसाहित्य मे जो कुछ नवीन-प्राचीन उपलब्धि, इस ग्रन्थ से प्रस्तुत हुई है, उससे पाठको को अवश्य ही सहज सन्तोष तथा प्रसन्नता होगी—यह आशा करता हू, जो मेरे श्रम की वास्तविक प्रशस्ति है।

जैन भवन, लोहामडी—आगरा
आषाढ शुक्ला द्वितीया
२७ जून १९६८

—उपाध्याय अमर मुनि

अ नु क्र म

परिशिष्ट

सूक्ति

त्रिवेणी

● वैदिक-धारा

●

●

ऋग्वेद की सूक्तियां

●

१. [1]अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्[2]।
होतारं[3] रत्नधातमम्[4]।

—१।१।१ ×

२. अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।

—१।१।२

३. अग्निना रयिमश्नवत्[5] पोषमेव दिवे दिवे।

—१।१।३

४. देवो देवेभिरागमत्।

—१।१।५

× अङ्क क्रमशः मंडल, सूक्त और मंत्र के सूचक हैं।

१. अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति। २. ऋतौ यजतीति विग्रहे सति ऋत्विग्। ३. देवानामाह्वातारम्। ४. रत्नानि धातुरत्न दानार्थवाचीति। ५. रयि—धनमश्नवत्—प्राप्नोति।

नोट—ऋग्वेदान्तर्गत सूक्त टिप्पण सायणाचार्यकृत भाष्य के हैं।

ऋग्वेद* की सूक्तियां

१. मैं अग्नि (अग्रणी तेजस्वी महापुरुष) की स्तुति करता हूँ, जो पुरोहित है–आगे बढ़कर सब का हित सम्पादन करता है, यज्ञ (सत्कर्म) का देवता है, ऋत्विज है—यथावसर योग्य कर्म का अनुष्ठान करता है, होता है—सहयोगी साथियो का आह्वान करता है, प्रजा को रत्नो (श्रेष्ठ वैभव) का दान करता है।

२ अग्नितत्त्व (तेजस्तत्त्व) की पुराने और नये सभी तत्वद्रष्टा ऋषियो ने प्रशंसा की है।

३ तेज से ही मनुष्य को ऐश्वर्य मिलता है, और वह दिन-प्रतिदिन बढता जाता है, कभी क्षीण नही होता।

४. देव देवो के साथ ही आता है। अर्थात् एक दिव्य सद्गुण अन्य अनेक सद्गुणो को साथ मे लाता है।

---

* भट्टाचार्य श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा संपादित औध से प्रकाशित (वि० सं० १९९६) सस्करण।

—ऋग्सहिता सायणभाष्यसहित, महामहोपाध्याय राजाराम शास्त्री द्वारा संपादित, गणपतकृष्णाजी प्रेस बम्बई से प्रकाशित (शक स० १८१०)।

५ पावका नः सरस्वती ।

—१।३।१०

६ चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।

—१।३।११

७ अग्निनाग्निः समिध्यते ।

—१।१२।६

८. मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः[1] प्रणङ् मर्त्यस्य ।

—१।१८।३

९ स घा वीरो न रिष्यति[2] ।

—१।१८।४

१० अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् ।

—१।२३।१९[3]

११. परा हि मे विमन्यवः[4] पतन्ति वस्य इष्टये[5] ।
वयो न वसतीरुप ।

—१।२५।४

१२. उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत[6] ।
अवाधमानि जीवसे ।

—१।२५।२१

१३. मिथः सन्तु प्रशस्तयः ।

—१।२६।९

१४. नमो महद्भ्यो[7] नमो अर्भकेभ्यो[8],
नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः[9] ।

—१।२७।१३

---

१. उपद्रवं कर्तुमस्मत्समीपं प्राप्तस्य शत्रुरूपस्य धूर्तिः-हिंसकः शंसः-शंसनमभिक्षेपनम् । २ विनश्यति । ३ यजुर्वेद ९।६, । ४ क्रोधरहिता बुद्धयः । ५ वसुमतो जीवनस्य प्राप्तये । ६ विचृत-वियुज्य नाशय ।

५. सरस्वती (ज्ञान-शक्ति) हम सब को पवित्र करने वाली है।

६. सरस्वती (ज्ञानशक्ति) सत्य को प्रेरित एव उद्घाटित करती है, और सद्बुद्धि वाले पुरुषो को यथावसर योग्य कर्मो की चेतना देती है।

७. अग्नि (मनुष्य की तेज शक्ति) अग्नि (सघर्ष) से ही प्रज्ज्वलित होती है।

८. ऊधम मचाने वाले दुर्जनो की डाहभरी निन्दा हमे कभी न छू सके।

९. वीर पुरुष कभी नष्ट नही होता।

१०. जल के भीतर अमृत है, औषधि है।

११. जिस तरह चिडियाँ अपने घोसले की ओर दौडती हैं, उसी तरह हमारी क्रोधरहित प्रशान्त बुद्धियाँ समृद्ध जीवन की प्राप्ति के लिए दौड रही है।

१२. हमारे ऊपर का, बीच का और नीचे का पाश खोल दो, नष्ट कर दो, ताकि हम संसार मे सुख से जीवित रह सके।

१३ (कर्मानुष्ठान के पश्चात्) हम सब साथी परस्पर एक दूसरे के प्रशंसक हो।

१४. हम बडे (गुणो से महान्), छोटे (गुणो से न्यून), युवा, और वृद्ध—सभी गुणीजनो को नमस्कार करते है।

---

७. महान्तो-गुणैरधिका. । ८ अर्भका-गुणैन्यू̐ना. । ९ आशिना-वयसा व्याप्ता वृद्धाः ।

१५ मा ज्यायसः शंसमा वृक्षि[1] देवा ।

—१।२७।१३

१६. ससन्तु[2] त्या अरातयो,[3] बोधन्तु शूर रातय. ।

—१।२९।४

१७. सर्वं परिक्रोश जहि ।

—१।२९।७

१८ विभूतिरस्तु सूनृता[4] ।

—१।३०।५

१९. ऊर्ध्वो[5] वाजस्य सनिता[6] ।

—१।३६।१३

२० कृधी न ऊर्ध्वान् चरथाय[7] जीवसे ।

—१।३६।१४

२१. असि हि वीर सेन्योऽसि[8] भूरि परादिदः ।

—१।८१।२

२२. असि दभ्रस्यचिद् वृध. ।

—१।८१।२

२३. आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वत. ।

—१।८९।१

२४ भद्र कर्णेभिः शृणुयाम देवा,
भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।

—१।८९।८[9]

२५. देवाना भद्रा सुमति ।

—१।८९।२

---

१ अह विच्छिन्न साकार्षम् । २ ससन्तु-निद्रा कुर्वन्तु । ३ अदानशीला. शत्रव । ४ सूनृता-प्रियसत्यरूपा । ५ ऊर्ध्व-उन्नत मन । ६ वाजस्य=अन्नस्य

१५. हे देवगण ! मैं अपने से बडे महान् पुरुषो का कभी आदर करना न छोड़ूँ ।

१६ हमारे अदानशील विरोधी शत्रु सोए रहे और दानशील मित्र जागते रहे, अर्थात् सहयोग देने मे सदा तत्पर रहे ।

१७. सब प्रकार के मात्सर्य का त्यागकर ।

१८. विभूति (लक्ष्मी) प्रिय एवं सत्यरूप अर्थात् समीचीन होनी चाहिए ।

१९. ऊँचे उठकर अर्थात् समृद्ध होकर अपने आश्रितो के अन्नदाता बनो ।

२०. हमे उन्नत करो, ताकि हम संसार मे सम्मान के साथ विचरण कर सके, जीवित रह सके ।

२१ हे वीर ! तू एकाकी होने पर भी समूची सेना के बराबर है, शत्रुओ को पराजित करने के लिए उनके विपुल ऐश्वर्य पर अधिकार करने वाला है ।

२२ तू क्षुद्र को महान् बनाने वाला है, अल्प को बहुत बढाने वाला है ।

२३. हमे कल्याणकारी कर्म सब ओर से प्राप्त होते रहे ।

२४. दानादि सत्कर्म करने वाले देवताओ ! हम कानो से सदा कल्याणकारी मंगल वचन सुनते रहे, हम आँखो से सदा कल्याणकारी शोभन दृश्य ही देखते रहे ।

२५. हमे दिव्य आत्माओ जैसी कल्याणकारी सद्बुद्धि प्राप्त हो ।

सनिता—दाता । ७. लोके चरणाय । ८ त्वमेकोऽपि सेनासदृशो भवसि । ९. यजुर्वेद २५।२१ सामवेद २१।१।९।२ ।

२६. देवाना सख्यमुपसेदिमा[1]।

—१।८९।२

२७ अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्,
अदितिर्माता स पिता स पुत्र.।
विश्वे देवा अदिति. पञ्चजना,
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

—१।८९।१०

२८. अप्रमूरा[2] महोभि[3]. व्रता[4] रक्षन्ते विश्वाहा[5]।

—१।९०।२

२९ मधु वाता ऋतायते. मधु क्षरन्ति सिन्धव.।
माध्वी र्न. सन्त्वोषधी ।

—१।९०।६[6]

३० मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिव रजः,
मधु द्यौरस्तु न पिता।

—१।९०।७[7]

३१. मधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्य.।
माध्वीर्गावो भवन्तु न. ।

—१।९०।८[8]

३२. त्व हि विश्वतोमुख विश्वत. परिभूरसि।
अप न. शोशुचदघम्।

—१।९७।६

३३. क्षुध्यद्भ्यो वय आसुर्ति[9] दाः।

—१।१०४।७

३४ अर्थमिद्वा[10] उ अर्थिन.।

—१।१०५।२

---

१. उपसेदिम-प्राप्नुवाम....महिताया दीर्घत्वम्। २ अप्रमूर्च्छिता. अमूढाः।
३ आत्मीयैस्तेजोभि.। ४ व्रतानि जगन्निर्वाहरूपाणि स्वकीयानि कर्माणि।
५. सर्वाणि अहानि। ६ यजुर्वेद १३।२७। ७ यजुर्वेद १३।२८।

२६. हम देवताओ की मित्रता (दोस्ती) प्राप्त करे।

२७. कभी भी दीन-हीन न होने वाली अदिति पृथिवी ही प्रकाशमान स्वर्ग है, अन्तरिक्ष है, जगत की जननी माता है, पिता है और दुःख से त्राण दिलाने वाला पुत्र भी यही है।

किं वहुना, सभी देव, सभी जातियाँ, तथा जो उत्पन्न हुआ है और होगा, वह सभी अदिति अर्थात् पृथिवीस्वरूप है।

२८. मोह से मूर्च्छित न होने वाले ज्ञानी पुरुष अपने आत्मीय तेज से सदैव स्वीकृत व्रतो मे दृढ रहते हैं, अर्थात् प्राणपण से अपने नियमो की रक्षा करते हैं।

२९. कर्मशील व्यक्ति के लिए समग्र[8] हवाएं और नदियां मधु वर्षण करती है। औषधियां (अन्न आदि) भी मधुमय हो जाती हैं।

३०. हमारी रात्रि और उषा मधुर हो। भूलोक अथवा पार्थिवमनुष्य माधुर्यविशिष्ट हो, और वृष्टि आदि के द्वारा सब का पिता (रक्षक) कहा जाने वाला आकाश भी मधुयुक्त हो।

३१. हमारे लिए समस्त वनस्पतियाँ मधुर हो। सूर्य मधुर हो, और सभी गौएं भी मधुर हो।+

३२. हे अग्नि (अग्रणी नेता), तुम्हारा मुख (दृष्टि) सब ओर है, अत तुम सब ओर से हमारी रक्षा करने वाले हो, तुम्हारे नेतृत्व मे हमारे सब पाप विकार नष्ट हो।

३३. भूख और प्यास से पीड़ित लोगो को यथेष्ट भोजन-पान (अन्न तथा दुग्ध, जल आदि) अर्पण करो।

३४. ऐश्वर्य प्राप्ति का दृढ सकल्प रखने वाले निश्चय ही अपेक्षित ऐश्वर्य पाते है।

---

८. यजुर्वेद १३।२९। ९. वयोऽन्न, आसुति-पेय क्षीरादिकम्। १०. इद्वं अपेक्षितम्।

+'गौ' पशु मात्र का उपलक्षण है, अत. सभी पशु मधुर हो, सुखप्रद हो।

३५ प्रचर्पणिभ्य. पृतनाहवेषु प्रपृथिव्या रिरिचाथे दिवश्च ।

—१।१०६।६

३६ समानो अध्वा स्वस्रो ।

—१।११३।३

३७ कथा[1] विधात्यप्रचेता ।

—१।१२०।१

३८. अध स्वप्नस्य निर्विदेऽभुञ्जतश्च रेवत.[2],
उभा ता बस्रि[3] नश्यत. ।

—१।१२०।१२

३९ उदीरता सूनृता उत्पुरन्धी[4] रुदग्नय.
शुशुचानासो[5] अस्थुः ।

—१।१२३।६

४०. अपान्यदेत्यभ्यन्यदेति विपुरूपे अहनी सञ्चरेते ।
परिक्षितोस्तमो अन्या गुहाकरद्यौदुषाः शोशुचता रथेन ॥

—१।१२३।७

४१. सदृशीरद्य सदृशीरिदु[1] श्व. ।

—१।१२३।८

४२. प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति ।

—१।१२५।१

४३. नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितो,
य. पृणाति स ह देवेषु गच्छति ।

—१।१२५।५

---

१. केन प्रकारेण । २. धनवतश्च पुरुपस्य । ३. क्षिप्रम् । ४. पुरं-शरीरं यासु धीयते याभिर्वा ताः पुरन्धय. प्रज्ञा प्रयोगविपया. । ५ अत्यन्त दीप्यमाना. ।

३५. कर्तव्य के लिए पुकार होने पर तुम सबके अग्रगामी बनो, पृथिवी और आकाश से भी अधिक विराट् बनो।

३६. दोनो बहनो (रात्रि और उषा) का मार्ग—(आकाश) एक है।
(आध्यात्म पक्ष मे पाप और पुण्य की वृत्तियो का पथ मानवमन एक है।)

३७. अज्ञानी व्यक्ति कैसे साधना कर सकता है ?

३८. प्रात. काल का स्वप्न और अपनी सम्पत्ति का जनकल्याण के लिए उचित उपयोग न करने वाला धनिक, दोनो ही से मै खिन्न हूँ। क्योकि ये दोनो शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

३९ हमारे मुख से प्रिय एवं सत्य वाणी मुखरित हो, हमारी प्रज्ञा उन्मुख-प्रवुद्ध हो, सत्कर्म के लिए हमारा अत्यन्त दीप्यमान तेजस्तत्व (सकल्प वल) पूर्ण रूपेण प्रज्वलित हो।

४०. रात पीछे लौट रही है, दिन सामने आरहा है। एक के हटने पर दूसरा आता है। विभिन्न एव विलक्षण रूप वाले दोनो दिन और रात व्यवधानरहित होकर चलते है। इनमे एक (रात्रि) सब पदार्थो को छिपाता है और दूसरा (उषा) अपने अतीव दीप्तिमान रथ के द्वारा उन्हे प्रकट करता है।

४१. उषा जैसी (निर्मल) आज है, वैसी ही कल थी, और कल होगी।

४२. दानशील व्यक्ति प्रात काल होते ही एक से एक उत्तम वस्तुओ (रत्नो) का दान करता है।

४३. जनता को परितृप्त करने वाला दानी स्वर्ग के देवताओ मे प्रमुख स्थान प्राप्त करता है।

---

६. उ शब्दोऽपिशब्दार्थ, इच्छन्द एवार्थः।

४४. इयं दक्षिणा पिन्वते[1] सदा ।

—१।१२५।५

४५. दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा, दक्षिणावतां दिवि सूर्यास. ।
दक्षिणावन्तो अमृत भजन्ते, दक्षिणावन्न प्रतिरन्त आयु. ॥

—१।१२५।६

४६. मा पृणन्तो दुरितमेन[2] आरन्[3] ।

—१।१२५।७

४७. मा जारिषु.[4] सूरय. सुव्रतास. ।

—१।१२५।७

४८. अपृणन्त[5]मभिसयन्तु शोका ।

—१।१२५।७

४९. पश्यदक्षण्वान्न[6] विचेतदन्ध.[7] ।

—१।१६४।१६

५०. ये [8]अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच[9] आहुर्,
ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहु ।

—१।१६४।१९

५१. द्वा सुपर्णा[10] सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्य. पिप्पल[11] स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति[12] ।

—१।१६४।२०

---

१ पिन्वते-सेचयति तोषयतीत्यर्थ । २ दुरित-दुष्ट यथाभवति तथा प्राप्तं-दुःख, एन. तत्साधन पापं च । ३ मा आरन्-मा प्राप्नुवन् । ४. जरया न जीर्णा भवेयु । ५ अदातारम् । ६ ज्ञानदृष्ट्युपेत. कश्चित् महान् । ७. अन्धः

४४. यह दक्षिणा (दान) सदैव सबको तृप्त करती रहती है।

४५. दानियो के पास अनेक प्रकार का ऐश्वर्य होता है, दानी के लिए ही आकाश मे सूर्य प्रकाशमान है। दानी अपने दान से अमृतत्व पाता है, वह अति दीर्घ आयु प्राप्त करता है।

४६. दानी कभी दु ख नही पाता, उसे कभी पाप नही घेरता।

४७. अपने व्रत नियमो मे दृढ ज्ञानी साधक कभी जीर्ण (क्षीण एव हीन) नही होते।

४८. दानहीन कृपण को ही सब शोक व्याप्त होते हैं।

४९. आँखो वाले (ज्ञानी) ही सत्य को देख सकते है अन्ध (स्थूल दृष्टि अज्ञानी) नही।

५०. विद्वान लोग जिन्हे अधोमुख कहते है, उन्ही को ऊर्ध्वमुख भी कहते है, और जिन्हे ऊर्ध्वमुख कहते है, उन्ही को अधोमुख भी कहते हैं।
(भौतिक पक्ष मे सूर्य और चन्द्र की किरणे ऊर्ध्वमुख और अधोमुख दोनो होती है। अध्यात्म पक्ष मे ज्ञानी पुरुष महान् भी होते है, और विनम्र भी।)

५१. दो समान योगवाले परस्पर मित्र सुन्दर पक्षी एक वृक्ष (ससार या शरीर) पर रहते हैं, उनमे से एक पके हुए स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा कुछ नही खाता, केवल देखता है। अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा दो पक्षी है, एक सासारिक भोगो मे लिप्त है और दूसरा निर्लिप्त है, केवल द्रष्टा है।

अतथारूप' स्थूलदृष्टि. न विचेतत् न विवेचयति न जानाति। ८. अर्वागचना अधोमुखा.। ९ पराच पुराङ्मुखाचनान् ऊर्ध्वान्। १० अत्र लौकिकपक्षि-द्वय दृष्टान्तेन जीवपरमात्मानौ स्तूयेते। ११. पक्वं फलम्। १२. अभिपश्यति।

५२. मे माता पृथिवी महीयम् ।

—१।१६४।३३

५३. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या,
अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।

—[1]१।१६४।३५

५४. ब्रह्माऽयं वाचः परमं व्योम ।

—१।१६४।३५

५५. न वि जानामि यदिवेदमस्मि,
निण्यः सनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्याद्,
इद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः[2] ।

—१।१६४।३७

५६ अपाङ्[3] प्राङे्ति[4] स्वधया[5] गृभीतो,
ऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विशूचीना वियन्ता,
न्यन्यं चिक्यु र्न[6] निचिक्युरन्यम् ॥

—१।१६४।३८

५७ यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ?
य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ।

—१।१६४।३९

५८. वयं भगवन्तः स्याम ।

—१।१६४।४०

५९. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।

—१।१६४।४६

---

१. यजुर्वेद २३।६२ । २ चित्तस्य वहिर्मुखता परित्यज्य अन्तर्मुखतैव तु संपाद्या, सा यदा स्यात् तदानीमेव स्वरूपं द्रष्टुं सुशक भवति । ३. अपाङेति

५२ यह महान् (विराट्) पृथ्वी मेरी माता है।

५३. यह वेदि (कर्म करने का स्थान) ही पृथ्वी का अन्तिम छोर है, यह यज्ञ (कर्तव्य-सत्कर्म) ही संसार की नाभि (मूलकेन्द्र) है।

५४. ब्रह्मा (विद्वान् प्रवक्ता) ही वाणी का परम रक्षक है, अधिष्ठाता है।

५५ मैं नही जानता कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ ? क्योकि मैं मूढ और विक्षिप्त चित्त हूँ, अर्थात् वहिर्मुख हूँ, जव मुझे सत्य ज्ञान का प्रथम उन्मेष होता है अर्थात् मैं अन्तर्मुख होता हूँ, तभी मैं तत्त्व वचनो के स्वरूप दर्शन का मर्म समझ पाता हूँ।

५६ अमर (आत्मा) मरणधर्मा (शरीर) के साथ रहता है। वह कभी अन्नमय शरीर पाकर पुण्य से ऊपर जाता है, कभी पाप से नीचे जाता है। ये दोनो विरुद्ध गति वाले संसार मे सर्वत्र एक साथ विचरते है। पामर ससारी प्राणी उनमे एक (मर्त्य-देह) को पहचानता है, दूसरे (अमर्त्य-आत्मा) को नही। [जीव अमर है, शरीर मरणशील। अज्ञानी शरीर को तो जानता है, पर जीव के विषय मे भ्रम मे पड़ा है।]

५७. जो ऋचाओ मे रहे हुए (आत्मा के) दिव्य सत्य को नही जानता, वह ऋचाओ से क्या करेगा, क्या लाभ उठाएगा ? जो इस दिव्य सत्य को जानता है, वही स्वस्वरूप मे स्थित होता है।

५८. हम सव भगवान् (ऐश्वर्यशाली) हो !

५९. सत्य एक ही है, विद्वान् उसका अनेक तरह से वर्णन करते हैं।

अशुक्ल कर्म कृत्वा अधोगच्छति। ४. प्राङेति ऊर्ध्वं स्वर्गादि लोक प्राप्नुवति। ५. स्वधा शब्देन अन्नमय शरीरं लक्ष्यते, तेन गृहीत. सन्। ६. न जानन्ति।

६० यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा ।

—१।१६४।५०

६१ समानमेतदुदकमुच्चैत्यवचाहभि[1] ।

—१।१६४।५१

६२. एकस्य चिन्मे विभ्वस्त्वोजो,
या नु दधृष्वान् कृणवै मनीषा ।

—१।१६५।१०

६३. अन्यस्य चित्तमभि सचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति ।

—१।१७०।१

६४. ऊर्ध्वान् न. कर्त जीवसे[2] ।

—१।१७२।३

६५. मिनाति श्रिय जरिमा तनूनाम् ।

—१।१७९।१

६६. सम्यञ्चा मिथुनावभ्यजाव ।

—१।१७९।३

६७ पुलुकामो हि मर्त्यः ।

—१।१७९।५

६८. ऋतेन ऋत नियतम् ।

—३।३।९

६९. सखेव सख्ये पितरेव साधुः ।

—३।१८।१

७०. पुरुद्रुहो हि क्षितयो जनानाम् ।

—३।१८।१

---

१. अहभिः कैश्चिदहोभि ग्रीष्मकालीनैरुच्चैति ऊर्ध्वं गच्छति, तथा अहभिः वर्षाकालीनैरहोभि तदुदक अवचैति अवाङ्मुख गच्छति ।

६०. देवता (ज्ञानी) यज्ञ से ही यज्ञ करते है, अर्थात् कर्तव्य से ही कर्तव्य की पूर्ति करते है ।

६१ जल एक ही रूप है, यह कभी (ग्रीष्म काल मे) ऊपर जाता है, तो कभी (वर्षा काल मे) नीचे आता है ।

६२. मैं भले ही अकेला हूँ, परन्तु मेरा ही बल सर्वत्र व्याप्त है । मै मन से जो भी चाहूँ, वही कर सकता हूँ ।

६३. जिन मनुष्यो का चित्त चचल है, वे अच्छी तरह चिन्तन (अधीत) किए हुए को भी भूल जाते है ।

६४. हे प्रभो ! हमे ऊँचा उठाओ, ताकि हम पूर्णायु तक जीवित (सुरक्षित) रह सके ।

६५. जरा-शरीर के सौन्दर्य को नष्ट कर डालती है ।

६६ हम स्त्री-पुरुष दोनो परस्पर सम्यक् सहयोग करते हुए गृहस्थ-धर्म का पालन करे ।

६७ साधारण मानव विभिन्न कामनाओ से घिरा रहता है ।

६८ ऋत (सत्य) से ऋत का होना नियत है ।

६९. जैसे हितोपदेश आदि के द्वारा मित्र मित्र के प्रति और माता पिता पुत्र के प्रति हितैषी होते है, वैसे ही तुम सब के हितैषी बनो ।

७० मनुष्यो के द्रोही (शत्रु) मनुष्य ही हैं ।

---

२ कर्त-कुरुत, जीवसे-चिरजीवनाय ।

७१. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा,
घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।

—३।२६।७

७२. ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्[1] ।

—३।३९।७

७३ आरे स्याम दुरितादभीके ।

—३।३९।७

७४. जायेदस्तं[2] मघवन् ।

—३।५३।४

७५ नावाजिनं[3] वाजिना[4] हासयन्ति,
न गर्दभं पुरो अश्वान् नयन्ति ।

—३।५३।२३

७६ महद् देवानामसुरत्वमेकम्[5] ।

—३।५५।१

७७ न पर्वता निनमे तस्थिवांसः ।

—३।५६।१

७८ कृष्णा सती रुशता[6] धासिनैषा,
जामर्येण पयसा पीपाय ।

—४।३।९

७९ स्वरभवज्जाते अग्नौ ।

—४।३।११

८०. सूरयो विश्वा आशास्तरीषणि ।

—५।१०।६

---

१ विशेषेण जानन्-प्रादुर्भवन् । २ अस्यन्ते क्षिप्यन्ते पदार्था अत्र इत्यस्तं गृहम् । जायेत्-जायैव गृह भवति, न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते इति स्मृते । ३ नावाजिनं-वाचाम् इनो वाजिन मर्वज्ञः, तद्विलक्षणं मूर्खं जनम् ।

७१ मैं परमतत्वस्वरूप अग्नि हूँ, ज्योतिर्मय हूँ, मैं परनिरपेक्ष रहकर जन्म से ही अपने दिव्य-रूप को स्वय ही प्रकट करता हूँ। प्रकाश (ज्ञान) मेरा नेत्र है। मेरे मुख मे (प्रिय एव सत्य वचन का) अमृत है।

७२. अन्धकार मे से उत्पन्न होकर भी दिव्य आत्मा ज्योति का वरण करते है।

७३. हम पापाचार से दूर रहकर पूर्ण निर्भय भाव मे विचरण करे।

७४. हे मघवन्, वस्तुत· गृहिणी (धर्मपत्नी) ही गृह है।

७५. ज्ञानी पुरुष अज्ञानी के साथ स्पर्धा करके अपना उपहास नही कराते हैं, अश्व के सम्मुख तुलना के लिए गर्दभ नही लाया जाता है।

७६. सब देवो (दिव्य आत्माओ) का महान् पराक्रम एक समान है।

७७ पृथ्वी पर अविचल भाव से खडे पर्वतो को कोई झुका नही सकता हे।

७८ काली गौ भी पुष्टिकारक एव प्राणदाता अमृतस्वरूप श्वेत दुग्ध के द्वारा मनुष्यो का पोषण करती है।

७९. अग्नि (उत्साह एवं दृढ संकल्प का तेज) के प्रदीप्त होते ही भूतल पर स्वर्ग (अथवा सूर्य) उतर आता है।

८०. विद्वान् सब आशाओ (दिशाओ अथवा कामनाओ) को पार करने मे समर्थ है।

४.वाजिना वागीशा. ।५ अस्यति क्षिपति सर्वानित्यसुर प्रबल:, तस्य भावोऽसुरत्व प्राबल्य महदैश्वर्यम्। ६ रुशता—श्वेतेन धासिना—प्राणिना धारकेण जामर्येण—जायन्ते इति जा. प्रजास्ता जा मर्येण अमरणनिमित्तेन पयसा।

८१. मातेव यद् भरसे पप्रथानो जनं जनम् ।

—५।१५।४

८२. क्षत्रं धारयतं बृहद् दिवि सूर्यमिवाजरम् ।

—५।२७।६

८३. विदद्वस उभयाहस्त्याभर ।

—५।३९।१

८४. यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्ष तदा भर ।

—५।३९।२

८५. पदे पदे मे जरिमा[1] निधायि[2] ।

—५।४१।१५

८६. देवोदेव: सुहवो भूतु मह्यम् ।

—५।४२।१६

८७. गोदा ये वस्त्रदा: सुभगास्तेषु राय: ।

—५।४२।८

८८ पिता माता मधुवचा: सुहस्ता: ।

—५।४३।२

८९. यो जागार तमृच:[3] कामयन्ते ।

—५।४४।१४

९०. यो जागार तमु सामानि यन्ति[4] ।

—५।४४।१४

९१. विश्वे ये मानुषा युगा[5] पान्ति मर्त्य रिष:[6] ।

—५।५२।४

९२. ऋतेन विश्व भुवनं विराजथ: ।

—५।६३।७

---

१. जरिमा—स्तुति । २. निधीयते—क्रियते । ३. सर्वशास्त्रात्मिका ।

८१. तू सर्वत्र फैलकर अर्थात् विराट् होकर माता के समान जन-जन (सब लोगो) का भरणपोषण करने वाला है।

८२. तुम, आकाश मे प्रकाशमान सूर्य की तरह सदा अक्षीण रहने वाले महान् क्षत्र (विराट् ऐश्वर्य) को धारण करो।

८३. हे धनिक दोनो हाथो से दान कर।

८४ हे इन्द्र ! जिसे तुम श्रेष्ठ समझते हो, वह अन्न (भोगोपभोग) हमे प्रदान करो।

८५. पद-पद पर मेरी (सत्कर्म करने वाले की) स्तुति की जाती है।

८६ सभी देव मेरे लिए स्वाह्वान (एकबार पुकारते ही आने वाले) हो।

८७ जो गोदान और वस्त्रदान करने वाले हैं, उन्ही श्रेष्ठ धनिको को धन प्राप्त हो।

८८ माता-पिता मधुर भाषण करने वाले, तथा हाथो से अभीष्ट दान देने वाले होते है।

८९. जो सदा जागरूक रहता है, उसी को ऋचाएँ (सभी शास्त्र) चाहती है।

९०. जो जागरूक रहता है, उसी को साम (स्तुति प्रशसा एव यश) प्राप्त होते हैं।

९१. सभी श्रेष्ठ जन सदैव दुष्टो से मनुष्यो की रक्षा करते है।

९२. ऋत (सत्य या लोकहितकारी कर्म) से समग्र विश्व को प्रकाशित करो।

---

४. प्राप्नुवन्ति। ५. युगा.—सर्वेषु कालेषु। ६. रिष.—हिंसकात् सकाशात्।

९३. मित्रस्य याया पथा ।

—५।६४।३

९४. अद्रुहा देवौ वर्धेते ।

—५।६८।४

९५ वयं ते रुद्रा[1] स्याम ।

—५।७०।२

९६ न संस्कृत प्रमिमीत. ।

—५।७६।२

९७ युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा. ।

—५।८१।१

९८. मदेम शतहिमा. सुवीरा. ।

—६।४।८

९९ वय जयेम[2] शतिनं सहस्रिणम् ।

—६।८।६

१००. पश्यतेममिदं ज्योतिरमृत मर्त्येषु ।

—६।९।४

१०१ अश्रायि यज्ञ. सूर्ये न चक्षु. ।

—६।११।५

१०२. व्रतै. सीक्षन्तो अव्रतम् ।

—६।१४।३

१०३ न य जरन्ति शरदो न मासा ।
न द्याव इन्द्रमवकर्शयन्ति ।

—६।२४।७

१०४ गावो भगो, गाव इन्द्रो मे अच्छान् ।

—६।२८।५

---

१. रुद्रा—दु.खाद् द्रावयितार: । २ लभेमहि ।

९३ मुझे मित्र के पथ (जिस व्यवहार से अधिक से अधिक मित्र प्राप्त हो) से चलना चाहिए।

९४. द्रोह न करने वाले देव (अच्छे साथी) ही ससार मे अभ्युदय प्राप्त करते हैं।

९५. हे दु.ख से मुक्त करने वाले रुद्रो! हम भी तुम्हारे जैसे ही जनता को दु ख से मुक्त करने वाले रुद्र हो जाएँ।

९६ अच्छे संस्कारो को नष्ट न करो।

९७. बुद्धिमान अपने मन और बुद्धि को सभी प्राप्त कर्मो मे ठीक तरह नियोजित करते हैं।

९८. हम पुत्र पौत्रादि अच्छे स्वजनो एव परिजनो के साथ सौ वर्ष तक प्रसन्न रहे।

९९. हम सैकडो-हजारो लोगो को तृप्त करने वाला अन्न प्राप्त करे।

१००. मरणशील नश्वर शरीरो मे अविनाशी अमृत—चैतन्यज्योति का दर्शन करो।

१०१. जिस प्रकार सूर्य मे प्रकाशमान तेज समाहित है उसी प्रकार मानव मे कर्म समाहित है।

१०२ व्रत-विरोधी को व्रतो से ही अभिभूत (प्रभावित) करना चाहिए।

१०३. इन्द्र को न वर्ष क्षीण (जर्जर) कर सकते है, और न महीने तथा दिन ही।

१०४. गाय ही मेरा धन है, इन्द्र मुझे गाय प्रदान करे।

१०५ इमा या गावः स जनास इन्द्र,
इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ।

—६।२८।५

१०६. यूय गावो मेदयथा कृशं चिद्—
अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्[1] ।
भद्र गृह कृणुथ भद्रवाचो,
बृहद् वो वय[2] उच्यते[3] सभासु ॥

—६।२८।६

१०७ इन्द्र. स नो युवा सखा ।

—६।४५।१

१०८. सुवीर्यस्य पतय स्याम ।

—६।४७।१२

१०९. रूपरूपं[4] प्रतिरूपो बभूव[5] ।

—६।४७।१८

११०. इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते[6] ।

—६।४७।१८

१११. प्रणीतिरस्तु सूनृता ।

—६।४८।२०

११२. परो[7] नान्तरस्तुतुर्यात्[8] ।

—६।६३।२

११३. अपो न नावा दुरिता तरेम ।

—६।६८।८

११४. अस्मे भद्रा सौश्रवसानि[9] सन्तु ।

—६।७४।२

---

१. शोभनागम् । २ वयोऽन्नम् । ३ दीयते । ४. रूप्यते-इति रूपं शरीरादि-प्रतिशरीरम् । ५. भवति इत्यर्थ. । ६ गच्छति । ७ विप्रकृष्ट. ।

१०५. हे मनुष्यो ! यह गाय ही इन्द्र है। मै श्रद्धा भरे मन से इस इन्द्र की पूजा करना चाहता हूँ।

१०६ हे गायो ! तुम हमे आप्यायित करो। कृश एव श्रीहीन हम लोगो को सुन्दर बनाओ। हे मगल ध्वनिवाली गायो ! हमारे घरो को मगलमय बनाओ। तुम्हारा दुग्ध आदि मधुरस जनसभाओ मे सबको वितरित किया जाता है।

१०७. युवा इन्द्र हमारा सखा है।

१०८. हम कल्याणकारी अच्छे बलवीर्य के स्वामी हो।

१०९. आत्मा प्रत्येक रूप (शरीर) के अनुरूप अपना रूप बना लेता है।

११०. इन्द्र (आत्मा) माया के कारण विभिन्न रूपो को धारण करता हुआ विचरण करता है।

१११. सत्य एव प्रिय वाणी ही ऐश्वर्य देने वाली है।

११२. न दूर रहने वाला पीडित करे और न पास रहने वाला।

११३. जिस प्रकार नौका जल को तैर जाती है, उसी प्रकार हम दुखो एवं पापो को तैर जाएँ।

११४. हमारा अन्न अथवा यश मंगलमय हो।

---

८. अन्तरः—सन्निकृष्टोपि न हिंस्यात्। ९. श्रवोऽन्न यशश्च।

११५ विश्वाहा[1] वयं सुमनस्यमाना.[2] ।

—६।७५।८

११६ पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वत ।

—६।७५।१४

११७ मा शूने[3] अग्ने निषदाम नृणाम् ।

—७।१।११

११८ ऊर्ध्वं नो अध्वरं कृतम्[4] ।

—७।२।७

११९ परिपद्य[5] ह्यरणस्य रेक्णः[6] ।

—७।४।७

१२० अचेतानस्य मा पथो वि दुक्ष. ।

—७।४।७

१२१. त्व दस्यूँरोकसो[7] अग्न आज ।
उरु[8] ज्योतिर्जनयन्नार्याय[9] ।।

—७।५।६

१२२. न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ते[10] ।

—७।१८।२१

१२३ मा शिश्नदेवा[11] अपि गुऋ्त न. ।

—७।२१।५

१२४. श[12] न पुरधी[13] शमु सन्तु राय. ।

—७।३५।२

१२५. उतेदानी भगवन्त स्यामोत प्रपित्व[14] उत मध्ये अह्नाम् ।

—७।४१।४

---

१ सर्वदा । २ सुखमनस । ३ शून्ये । ४. कुरुतम् । ५ पर्याप्तम् । ६ धनम् । ७ कर्महीनान् । ८ अधिकम् । ९. कर्मवते । १०. विस्मरन्ति ।

११५ हम सदा सुखी एव शान्त मन से रहे ।

११६. मनुष्य, मनुष्य की सब प्रकार से रक्षा करे ।

११७. हे अग्नि देव ! हम परिवार से रहित सूने घर मे न रहे, और न दूसरो के घर मे रहें ।

११८. हमारे यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) को ऊर्ध्वमुखी बनाइए ।

११९. ऋण रहित व्यक्ति के पास पर्याप्त धन रहता है ।

१२०. मूर्ख के मार्ग का अनुसरण नही करना चाहिए ।

१२१. हे देव ! आर्य (कर्मनिष्ठ) जन को अधिकाधिक ज्योति प्रदान करो और दस्युओ (निष्कर्मण्यो) को दूर खदेड़ दो ।

१२२. श्रेष्ठ जन अपने पालन करने वाले के उपकार को नही भूलते है ।

१२३. शिश्न देव (व्यभिचारी) सत्कर्म एव सत्य को नही पा सकते ।

१२४. हमारी बुद्धि और धन शान्ति के लिए हो ।

१२५. हम अब वर्तमान मे भगवान (महान्) हो, दिन के प्रारम्भ मे और मध्य मे भी भगवान् हो ।

---

११. अब्रह्मचर्या । १२. शान्त्यै । १३. बहुधी । १४ प्रपित्वे अह्ना प्राप्ते पूर्वाह्ने ।

१२६ द्रुह. सचन्ते[1] अनृता जनानाम् ।

—७।६१।५

१२७ सुगा नो विश्वा सुपथानि सन्तु ।

—७।६२।६

१२८ विश्वा अविष्टं वाज आ पुरधी. ।

—७।६७।५

१२९ अस्ति ज्यायान्[2] कनीयस उपारे ।

—७।८६।६

१३०. स्वप्नश्च नेदनृतस्य[3] प्रयोता ।

—७।८६।६

१३१. श नः क्षेमे[4] शमु योगे नो अस्तु ।

—७।८६।८

१३२. ध्रुवासो अस्य कीरयो[5] जनास. ।

—७।१००।४

१३३. आप इव काशिना सगृभीता ।
असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥

—७।१०४।८

१३४. सुविज्ञान चिकितुषे[6] जनाय,
सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते[7] ।
तयोर्यत्सत्यं यतरहजीयस्[8],
तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

—७।१०४।१२

१३५. इन्द्रो यातूनाम[9]भवत् पराशर.[10] ।

—७।१०४।२१

---

१. सेवन्ते । २ स एव तं पापे प्रवर्तयति । ३ स्वप्ने कृतैरपि कर्मभिर्बहूनि पापानि जायन्ते, किमु वक्तव्य जाग्रतिकृतैं कर्मभि । ४ अप्राप्तस्य

१२६. द्रोही व्यक्ति लोगो की झूठी प्रशसा ही पाते है, सच्ची नही।

१२७. हमारे लिए सभी गन्तव्य स्थान सुगम एवं सुपथ हो।

१२८. हे देव ! सग्राम (सघर्पकाल) मे भी हमारी बुद्धि को व्यवस्थित रखिए।

१२९. छोटे अनुयायी के पापाचार मे नेता के पद पर रहने वाला बड़ा व्यक्ति कारण होता है।

१३० स्वप्न भी पाप का कारण होता है, अर्थात् स्वप्न मे किए जाने वाले दुष्कर्म से भी पाप लगता है।

१३१. हमारे योग (लाभ) मे उपद्रव न हो, हमारे क्षेम (प्राप्त लाभ का रक्षण) मे उपद्रव न हो, अर्थात् हमारे योग, क्षेम वाधारहित मगलमय हो।

१३२. परम तत्त्व के स्तोता जन ही ध्रुव-अर्थात् निश्चल होते है।

१३३. हे इन्द्र ! मुट्ठी मे ग्रहण किए हुए जल के समान असत्यभाषी दुष्ट जन भी असत् हो जाता है, अर्थात् विशीर्ण एव नष्ट हो जाता है।

१३४. विद्वान् के लिए यह जानना सहज है कि सत्य और असत्य वचन परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हैं। उनमे जो सत्य एव सरलतम है, सोम उसी की रक्षा करते हैं और असत्य को नष्ट कर देते हैं।

१३५. इन्द्र हिंसको के ही हिंसक है, अथात् अकारण किसी को दण्डित नही करते।

प्रापणं योग, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेम.। ५ स्तोतार। ६ विदुपे। ७ मिथ· स्पर्धेते। ८ ऋजुतमं अकुटिलम्। ९.हिंसकानाम्। १०. पराशातयिता हिंसिता।

१३६ न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति,
न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।

—७।१०४।१३

१३७. विग्रीवासो मूरदेवा[1] ऋदन्तु,
मा ते दृशन् त्सूर्यमुच्चरन्तम्।

—७।१०४।२४

१३८. युयुत या अरातयः।

—८।६।१

१३९. क्रीलन्त्यस्य सूनृता आपो न प्रवता यतीः।

—८।१३।८

१४०. शं नस्तपतु सूर्यः, शं वातो वात्वरपाः[2]।

—८।१८।६

१४१ यो नः कश्चिद् रिरिक्षति[3] रक्षस्त्वेन मर्त्यः।
स्वैः[4] ष एवैः रिरिषीष्ट युर्जनः॥

—८।१८।१३

१४२ भद्रं मनः कृणुष्व।

—८।१९।२०

१४३ यदग्ने मर्त्यस्त्वं[5] स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः।

—८।१९।२५

१४४. नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे।

—८।२१।१४

१४५ अमृक्ता रातिः।

—८।२४।६

---

१. मारणक्रीडाः राक्षसाः। २. अपापः सन्। ३. जिहिंसिषति। ४. आत्मीयैरेव चेष्टितैः रिरिषीष्ट हिंसितो भूयात्। ५. ये यथा यथोपासते ते

१३६. कोई कैसा ही क्यो न वलवान हो, यदि वह असत्यवादी एव पापी है तो उसे सोम देवता किसी महान् कार्य के लिए नियुक्त नही करते हैं।

१३७ हमेशा मारधाड मे प्रसन्न रहने वाले सिरफिरे दुष्टजन शीघ्र ही नष्ट हो जाते है। उन्हे उगते हुए सूर्य के दर्शन नही होते।

१३८. जो लोग दानी नही हैं, उन्हे सदा दूर रखिए।

१३९. प्रवाह मे वहते हुए जल के समान प्रिय एव सत्य वाचा क्रीडा करती हुई वहती है।

१४०. सूर्य हम सबके लिए सुखद होकर तपे, वायु पापताप से रहित शुद्ध होकर वहे।

१४१. जो व्यक्ति किसी को राक्षस भाव (दुर्भाव) से नष्ट करना चाहता है, वह स्वय अपने ही पापकर्मो से नष्ट हो जाता है, अपदस्थ हो जाता है।

१४२. अपने मन को भद्र (कल्याणकारी, उदार) बनाओ।

१४३ हे मित्र के समान तेजस्वी ज्योतिर्मयदेव, मैं मरणधर्मा मनुष्य तेरी उपासना से तू ही (त्वद्रूप) हो जाता हूँ, मरण से मुक्त अमर्त्य (अमर) हो जाता हूँ।

१४४. हे इन्द्र ! तुम दानादि गुणो से रहित कोरे धनी व्यक्ति को अपना मित्र नही बनाते हो।

१४५. (सदभाव से दिया गया) दान कभी नष्ट कही होता।

तदेव भवन्तीति श्रुते, तर्हि अहं अमर्त्यो मरणधर्मरहितो देव एव भवेयम्।

१४६ घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत।

—८।२४।२०

१४७ यो वाम् यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव।
सपर्यन्ता[1] शुभे चक्राते अश्विना॥

—८।२६।१३

१४८. ऋते स विन्दते युधः।

—८।२७।१७

१४९ एषा चिदस्मादशनिः,
परो नु सास्रेधन्ती[2] वि नश्यतु।

—८।२७।१८

१५० यथा वशन्ति[3] देवास्तथेदसत्[4],
तदेषा न किरा मिनत्[5]।

—८।२८।४

१५१ नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः[6]।
विश्वे सतोमहान्त इत्।

—८।३०।१

१५२. सुमतिं न जुगुक्षत[7]।

—८।३१।७

१५३ सुगा ऋतस्य पन्थाः।

—८।३१।१३

१५४. जरितृभ्यः पुरूवसुः।

—८।३२।११

१५५ स्त्रिया अशास्यं मनः।

—८।३३।१७

---

१ सपर्यन्ता अभीष्टप्रदानेन तं परिचरन्तौ। २. अस्रेधन्ती काश्चिदप्यहिंसती। ३. यथा कामयन्ते। ४. तथैव असत् तद् भवति। ५ न कश्चिदपि

१४६. घृत और मधु से भी अत्यन्त स्वादु वचन वोलिए ।

१४७. जैसे नव वधू वस्त्र से ढकी रहती है, वैसे ही जो यज्ञ (सत्कर्म) से ढका रहता है, उसकी परिचर्या (देखरेख) करते हुए अश्विनी देव उसका मंगल करते है ।

१४८ महान् आत्मा युद्ध के विना भी ऐश्वर्य प्राप्त कर लेते हैं ।

१४९. यह अशनि (आयुध, वज्र) विना किसी की हिंसा किये शीघ्र स्वय ही विनष्ट हो जाए !

१५०. दिव्य आत्मा जो चाहते हैं वही होता है । उनके सकल्प को कोई ध्वस्त नही कर सकता ।

१५१ हे देवताओ ! तुम्हारे मे न कोई शिशु है, न कोई कुमार है । तुम सव के मव पृथ्वी पर सदा महान् (नित्य तरुण रहते) हो ।

१५२. अपनी बुद्धि को आवृत (आच्छादित) न करो ।

१५३ सत्य का मार्ग सुगम है ।

१५४ अपने स्तोताओ (साथियो) के लिए ही धनसग्रह करना चाहिए, वैयक्तिक स्वार्थ के लिए नही ।

१५५. स्त्री का मन अशास्य है, अर्थात् उस पर शासन करना सहज नही है ।

मिनत्—हिनस्ति । ६. सर्वे यूय सवयसो नित्यतरुणा. भवथ । ७ संवारग-माच्छादनम्—न छादयत इत्यर्थ. ।

१५६ अध. पश्यस्व मोपरि[1]।

—८।३३।१६

१५७. सतरां पादकौ हर !

—८।३३।१६

१५८. सुऊतयो व ऊतयः[2]।

—८।४७।१

१५९ पक्षा वयो यथोपरि व्यस्मे शर्म यच्छत।

—८।४७।२

१६० परि णो वृणजन्नघा दुर्गाणि रथ्यो यथा।

—८।४७।५

१६१ मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पि ।

—८।४८।१४

१६२. अपाम सोममसृता अभूम।

—८।४८।३

१६३. भद्रा इन्द्रस्य रातय.।

—८।६२।१

१६४. सत्यमिद्वा उ त वयमिन्द्रं स्तवाम नानृतम्।

—८।६२।१२

१६५ अस्ति देवा [3]अंहोरुर्वस्ति [4]रत्नमनागसः।

—८।६७।७

१६६. जज्ञानो नु शतक्रतु ।

—८।७७।१

---

१. एष स्त्रीणां धर्मः। २. रक्षणानि। ३ अंहो हन्तु। ४ रत्न रमणीयं सुकृतं श्रेयोऽस्ति।

१५६. नीचे की ओर देखिए, ऊपर की ओर नहीं।

१५७. अपने पैरों को मिलाये रखो!

१५८. तुम्हारी ओर से किया जाने वाला जनता का रक्षण अपने में एक अच्छा (निष्पाप) रक्षण हो।

१५९. जैसे पक्षी (चिड़ियाएँ) अपने बच्चों को सुख देने के लिए उन पर पंख फैला देते हैं, वैसे ही तुम सब को सस्नेह सुख प्रदान करो।

१६०. जिस प्रकार रथ को वहन करने वाले अश्व दुर्गम (ऊँचे नीचे गड्ढे वाले) प्रदेश को छोड कर चलते हैं, उसी प्रकार जीवन मे पापाचार को छोडकर चलना चाहिए।

१६१. हम पर न तो निद्रा हावी हो, और न व्यर्थ की बकवास करने वाला निन्दक!

१६२. हम सोमरस (शान्ति तथा समता रूप अमृतरस) का पान करे, ताकि अमर हो जाएँ।

१६३. इन्द्र (श्रेष्ठ जन) का दान कल्याणकर है।

१६४. हम सच्ची स्तुति ही करते हैं, झूठी नही।

१६५. देवो! पापशील हिंसक को महापाप होता है, और अहिंसक धर्मात्मा को अतीव दिव्य श्रेय (सुकृत) की प्राप्ति होती है।

१६६. इन्द्र जन्म से ही शतक्रतु है, अर्थात् बहुत अधिक कर्म करने वाला है।

१६७. विश्वं शृणोति पश्यति ।

—८।७८।५

१६८. आ नो भर दक्षिणेनाभिसव्येन प्रमृश[1] !

—८।८१।६

१६९. अजातशत्रुरस्तृतः ।

—८।९३।१५

१७०. त्वमस्माकं तव स्मसि ।

—८।९२।३२

१७१. मनश्चिन्मनसस्पति. ।

—९।११।८

१७२. व्रतेषु जागृहि ।

—९।६१।२४

१७३. स्वदन्ति गाव. पयोभिः ।

—९।६२।५

१७४. मज्जन्त्यविचेतस.[2] ।

—९।६४।२१

१७५. सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत ।

—९।८३।४

१७६. त्व समुद्रो असि विश्ववित् कवे !

—९।८६।२९

१७७ क्रतुं रिहन्ति[3] मधुनाभ्यञ्जतो ।

—९।८६।४३

१७८ पथः कृणुहि प्राच. ।

—९।९१।५

---

१. प्रयच्छ । २. विपरीतमतयः । ३ लिहन्ति—आस्वादयन्ति ।

१६७ ज्ञानी आत्मा सब सुनता है, सब देखता है ।

१६८. दाएँ और बाएँ—दोनो हाथो से दान करो ।

१६९. अजातशत्रु (निर्वैर) कभी किसी से हिंसित (विनष्ट) नही होता ।

१७० तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं ।

१७१. मन का ज्ञाता मन का स्वामी होता है ।

१७२. अपने व्रतो (कर्तव्यो) के प्रति सदा जागृत रहो ।

१७३. गाये अपने दूध से भोजन को मधुर बनाती है ।

१७४ विपरीत बुद्धि वाले अज्ञानीजन डूब जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं ।

१७५. पुण्य कर्म वाले व्यक्ति ही जीवन मे मधुरस (सुख) का आस्वादन करते है ।

१७६. हे विद्वन् (कवि) ! तुम विश्वरहस्यो के ज्ञाता हो, ज्ञान के समुद्र हो ।

१७७ कर्म करने वाले—क्रतु को ही सब लोग चाहते है ।

१७८. मार्गो को पुराने करो, अर्थात् अभ्यस्त एव सुपरिचित होने के कारण तुम्हारे लिए कोई भी मार्ग (जीवनपथ) नया न रहे ।

१७६ ग्रन्थि न वि ष्य ग्रथितं पुनान,
ऋजु च गातु वृजिनं च सोम !

—६।६७।१८

१८० सखेव सख्ये गातुवित्तमो भव !

—६।१०४।५

१८१ नानानं वा उ धियो वि व्रतानि जनानाम् ।

—६।११२।१

१८२. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।

—६।११२।३

१८३ बल दधान आत्मनि ।

—६।११३।१

१८४. लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र मामृतं कृधि ।

—६।११३।६

१८५ अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्नि च विश्वशंभुवम् ।

—१०।९।६

१८६ इद नम ऋषिभ्य. पूर्वजेभ्य पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्य. ।

—१०।१४।१५

१८७ मधुमन्मे परायणं[1], मधुमत्[2] पुनरायनम्[3] ।

—१०।२४।६

१८८. भद्रं नो अपि वातय[4], मनो दक्ष[5]मुत क्रतुम्[6] ।

—१०।२५।१

---

१ गृहात्परागमनम् । २ प्रीतियुक्त भवतु । ३ गृह प्रत्यागमनम् ।

१७९ हे देव ! जैसे गाठ को सुलझा (खोल) कर अलग किया जाता है, वैसे ही मुझे पापो से मुक्त करो ! और तुम मुझे जीवन-यात्रा का सरल मार्ग और उस पर चलने की उचित शक्ति दो।

१८०. जैसे मित्र मित्र को सच्चा मार्ग बताता है, वैसे ही तुम यथार्थ मार्ग के बताने वाले (उपदेष्टा) बनो।

१८१ मनुष्यो के विचार और आचार (कर्म) अनेक प्रकार के हैं।

१८२ मैं कारु (कलाकार) हूँ, पिता वैद्य है, और कन्या जौ पीसने का काम करती है।

१८३ अपने मे बल का आधान करो।

१८४. जहाँ के निवासी ज्योति:पुञ्ज के समान तेजस्वी है, उसी लोक मे हे सोम ! मुझे भी अमृतत्व प्रदान करो, अर्थात् स्थायी निवास दो !

१८५ सोम का कथन है कि—इन्ही जलो मे विश्व हितकर अग्नि का निवास है, और औषधियाँ भी इन्ही मे आश्रित हैं।

१८६. हम अपने से पूर्व उत्पन्न हुए कर्तव्यपथ के निर्माता आदिकालीन ऋषियो को नमस्कार करते हैं।

१८७. मेरा घर से बाहर जाना मधुमय (प्रीतियुक्त) हो, और मेरा वापिस आना भी वैसा ही मधुमय हो, अर्थात् मै जब भी, जहाँ भी जाऊँ, सर्वत्र प्रीति एवं आनन्द प्राप्त करूँ।

१८८. हे देव ! हमारे मन को शुभसंकल्प वाला बनाओ, हमारे अन्तरात्मा को शुभ कर्म करने वाला बनाओ, और हमारी बुद्धि को शुभ विचार करने वाली बनाओ।

---

४. गमय। ५. अन्तरात्मानं शुभकारिणं कुरु। ६ प्रज्ञान शुभाध्यवसायिनं कुरु।

१८९ जिनामि वेत् क्षेम[1] आ सन्तमाभु[2] ।
प्र तं क्षिणा[3] पर्वते पादगृह्य ॥

—१०।२७।४

१९० न वा उ मां वृजने[4] वारयन्ते,
न पर्वतासो यदहं मनस्ये ।

—१०।२७।५

१९१ भद्रा[5] वधूर्भवति यत् सुपेशाः[6],
स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित् ॥

—१०।२७।१२

१९२ लोपाशः[7] सिंहं प्रत्यञ्च[8]मत्साः[9],
क्रोष्टा[10] वराहं निरतक्त[11] कक्षात् ।

—१०।२८।४

१९३. अद्रिं लोगेन[12] [13]व्यभेदमारात्[14] ।

—१०।२८।६

१९४. बृहन्तं चिदृहते रन्धयानि,
वयद्[15] वत्सो वृषभं शूशुवान[16] ।

—१०।२८।९

१९५. अक्षेत्रवित्[17] क्षेत्रविदं ह्यप्राट् ।
स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः ॥

—१०।३२।७

१९६. निबाधते अमतिः ।

—१०।३३।२

---

१ जगत्पालने निमित्ते । २. महान्तम् । ३. प्रक्षिपामि । ४. संग्रामे । ५. कल्याणी । ६. शोभनरूपा । ७ लुप्यमानं तृणमश्नातीति लोपाशो मृगः । ८. आत्मानं प्रति गच्छन्तम् । ९ आभिमुख्येन गच्छति । १०. शृगालः ।

१८९. मैं प्रजा के कल्याण के लिए ही सर्वत्र प्रभुत्व प्राप्त किए बलवान् शत्रु को पराजित करता हूँ, पाँव पकड़कर उसे शिलापर पछाड़ता हूँ।

१९०. जीवनसग्राम मे मुझे कोई अवरुद्ध नही कर सकता, यदि मैं चाहूँ, तो विशाल पर्वत भी मेरी प्रगति ,मे बाधक नही हो सकते।

१९१. जो स्त्री सुशील सुन्दर एवं श्रेष्ठ है, वह जनसमूह मे से इच्छानुकूल पुरुष को अपने मित्र (पति) रूप मे वरण कर लेती है।

१९२. मेरी इच्छा शक्ति से ही तृणभक्षी हिरण अपने सामने आते सिंह को ललकार सकता है और शृगाल वराह को वनसे भगा सकता है।

१९३. एक ढेला फैंककर मैं दूरस्थ पर्वत को भी तोड़ सकता हूँ।

१९४. कभी-कभी महान भी क्षुद्र के वश में आ जाता है, प्रवर्द्धमान बछड़ा भी वृषभ (साड) का सामना करने लगता है।

१९५. मार्ग से अनभिज्ञ व्यक्ति मार्ग के जानने वाले से पूछ सकता है, और उसके बताये पथ से अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकता है।

१९६. मनुष्य को उसकी अपनी दुर्बुद्धि ही पीडा देती है।

---

११. निर्गमयति। १२. लोप्टेन। १३. भिनद्मि। १४. दूरस्थितमपि। १५. युद्धाय गच्छति। १६ वीर्येण वर्द्धमान। १७. क्षेत्रं पंथाः, पन्थानमजानन् पुरुषः।

१९७ द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि,
न नाथितो विन्दते मर्डितारम्[1]।
अश्वस्येव जरतो[2] वस्न्यस्य[3],
नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥

—१०।३४।३

१९८. अन्ये जाया परिमृशन्त्यस्य,
यस्यागृधद् वेदने वाज्यक्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्,
न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥

—१०।३४।४

१९९. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व,
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया,
तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥

—१०।३४।१३

२००. सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो,
द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति,
विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥

—१०।३७।२

२०१. शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे।

—१०।३७।११

२०२. विशं विश मघवा पर्यशायत।

—१०।४३।६

२०३. अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं,
न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।

—१०।४८।५

---

१. धनदानेन सुखयितारम्। २. वृद्धस्य। ३. वस्न-मूल्य तदर्हस्य।

१९७. जुआ खेलने वाले पुरुष की सास उसे कोसती है और उसकी पत्नी भी उसे त्याग देती है। मांगने पर जुआरी को कोई कुछ भी नही देता। जैसे बूढ़े घोडे का कोई मूल्य नही देना चाहता, वैसे ही जुआरी को भी कोई आदर नही देता।

१९८. हारे हुए जुआरी की पत्नी को जीते हुए जुआरी केश पकड कर खींचते हैं, उसके धन पर दूसरे बलवान जुआरिओ की गृध्र दृष्टि रहती है। माता पिता और भाई कहते हैं कि—'हम इसको नही जानते, इसे बाँधकर ले जाओ।'

१९९. हे जुआरी! जुआ खेलना बन्द कर, खेती कर! उसमें कम भी लाभ हो, फिर भी उसे बहुत समझ कर प्रसन्न रह। खेती से ही तो तुझे गौएँ मिली है, पत्नी मिली है, ऐसा हमे भगवान सूर्य ने कहा है।

२००. सत्य के आधार पर ही आकाश टिका है, समग्र संसार और प्राणीगण सत्य के ही आश्रित हैं। सत्य से ही दिन प्रकाशित होते है, सूर्य उदय होता है और जल भी निरतर प्रवाहित रहता है। यह सत्य की वाणी सब प्रकार से मेरी रक्षा करे।

२०१. मनुष्य और पशु सब को सुख अर्पण करो।

२०२. प्रत्येक मनुष्य मे इन्द्र (ऐश्वर्य शक्ति) का निवास है।

२०३. मै इन्द्र (आत्मा) हूँ। मेरे ऐश्वर्य का कोई पराभव नही कर सकता। मैं मृत्यु के समक्ष कभी अवस्थित नही होता, अर्थात् मृत्यु की पकड मे नही आता।

२०४. अश्मन्वती रीयते[1] संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता[2] सखाय. ।

—१०।५३।८

२०५. मा प्र गाम[3] पथो[4] वयम् ।

—१०।५७।१

२०६ जीवसे ज्योक्[5] च सूर्य दृशे ।

—१०।५७।४

२०७ यत् ते चतस्र. प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ।
तत् त आ वर्तयामसीह[6] क्षयाय[7] जीवसे[8] ॥

—१०।५८।४

२०८. यत् ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम् ।
तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

—१०।५८।१२

२०९. पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम् ।

—१०।५९।४

२१०. द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु ।

—१०।५९।४

२११. अय मे हस्तो भगवानयं[9] मे भगवत्तर. ।
अय मे विश्वभेषजोऽय शिवाभिमर्शन. ॥

—१०।६०।१२

२१२. इमे मे देवा, अयमस्मि सर्वः ।

—१०।६१।१९

२१३. सावर्ण्यस्य दक्षिणा वि सिन्धुरिव पप्रथे ।

—१०।६२।९

---

१. गच्छति । २ उल्लघयत । ३. मा परागच्छाम । ४ समी-

२०४. हे मित्रो ! अश्मन्वती (पत्थरो से भरी नदी) वह रही है, दृढ़ता से तनकर खड़े हो जाओ, ठीक प्रयत्न करो और इसे लाघ जाओ।

२०५. हम सुपथ से कुपथ की ओर न जाएं।

२०६. जीवन मे चिरकाल तक सूर्य (प्रकाश) के दर्शन करते रहो।

२०७ हे वन्धु ! तुम्हारा मन, जो चारो ओर अत्यन्त दूरस्थ प्रदेश मे भटक गया है, उसे हम लौटा लाते हैं। इसलिए कि तुम जगत मे निवास करने के लिए चिरकाल तक जीवित रहो।

२०८. हे वन्धु ! तुम्हारा जो मन, भूत वा भविष्यत् के किसी दूर स्थान पर चला गया है, उसे हम लौटा लाते है। इसलिए कि तुम जगत मे निवास करने के लिए चिरकाल तक जीवित रहो।

२०९. हम नित्यप्रति उदय होते हुए सूर्य को देखे, अर्थात् चिरकाल तक जीवित रहें।

२१०. हमारी वृद्धावस्था दिन प्रतिदिन सुखमय हो।

२११ यह मेरा हाथ भगवान् (भाग्यशाली) है, भगवान ही क्या, अपितु भगवत्तर है, विशेष भाग्यशाली है। यह मेरा हाथ विश्व के लिए भेषज है, इसके स्पर्शमात्र से सव का कल्याण होता है।

२१२. विश्व के ये देव (दिव्य शक्तिया) मेरे हैं, मैं सव कुछ हूँ।

२१३. सार्वणि मनु का दान, नदी के समान दूर दूर तक विस्तृत (प्रवाहित) है।

चीनान्मार्गात् । ५. चिरकालम् । ६ आवर्तयाम. । ७. इह लोके निवासाय । ८, चिरकालजीवनाय । ९. भाग्यवान् ।

२१४ न तमश्नोति कश्चन ।

—१०।६२।६

२१५ य ईशिरे[1] भुवनस्य प्रचेतसो[2]
विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तव.[3] ।

—१०।६३।८

२१६ सक्तुमिव तितउना[4] पुनन्तो,
यत्र धीरा मनसा[5] वाचमक्रत[6] ।
अत्रा सखाय.[7] सख्यानि जानते[8],
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

—१०।७१।२

२१७. उत त्व[9] पश्यन् न ददर्श वाच-
मुत त्व. शृण्वन् न शृणोत्येनाम ।
उतो त्वस्मै तन्व विसस्रे[10],
जायेव पत्य उशती सुवासा ॥

—१०।७१।४

२१८ अधेन्वा चरति[11] माययैष,
वाचं शुश्रुवाँ[12] अफलामपुष्पाम्[13] ।

—१०।७१।५

२१९. यस्तित्याज सचिविदं सखायं[14],
न तस्य वाच्यपि भागो[15] अस्ति ।

---

१ ईश्वरा भवन्ति । २. प्रकृष्टज्ञाना । ३ सर्वस्य वेदितारः । ४. शूर्पेण । ५ प्रज्ञायुक्तेन । ६ कुर्वन्ति । ७ शास्त्रादि विषयज्ञाना. । ८. अभ्युदयान् लभन्ते । ९ त्वशब्द एकवाची एक । १०. आत्मान विवृणुते—प्रकाशयति । ११ यथा वध्या पीना गौ किं द्रोणमात्रं क्षीर दोग्धीति माया उत्पादयन्ती चरति, यथा वंध्यो वृक्षोऽकाले पल्लवादियुक्त. सन पुष्पति फलतीति भ्रान्ति-

११४. दानशील मनु (मानव) को कोई पराजित नही कर सकता।

२१५. विश्व के ज्ञाता द्रष्टा श्रेष्ठ ज्ञानी देव (महान् आत्मा) स्थावर और जंगम समग्र लोक के ईश्वर है।

२१६. जैसे सत्तू को शूप से परिष्कृत (शुद्ध) करते हैं, वैसे ही मेधावीजन अपने बुद्धि बल से परिष्कृत की गई भाषा को प्रस्तुत करते हैं। विद्वान लोग वाणी से होने वाले अभ्युदय को प्राप्त करते हैं, इनकी वाणी मे मगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

२१७. कुछ मूढ लोग वाणी को देखकर भी देख नही पाते, सुन कर भी सुन नही पाते। किन्तु विद्वानो के समक्ष तो वाणी अपने को स्वय ही प्रकाशित कर देती है, जैसे कि सुन्दर वस्त्रो से आवृत पत्नी पति के समक्ष अपने को अनावृत कर देती है।

२१८ जो अध्येता पुष्प एवं फल से हीन शास्त्रवाणी सुनते हैं, अर्थात् अर्थबोध किए विना शास्त्रो को केवल शब्दपाठ के रूप मे ही पढते रहते हैं, वे वध्या गाय के समान आचरण करते हैं। अर्थात् जैसे मोटी ताजी वध्या गाय अपरिचित लोगो को खूब दूध देने की भ्रान्ति पैदा कर देती है, वैसे ही शब्दपाठी अध्येता भी साधारण जनता मे अपने पाडित्य की भ्रान्ति पैदा करता है।

२१९. दूसरो को शास्त्रबोध न देने वाले विद्वान की वाणी फलहीन (निष्प्रयो-

---

मुत्पादयस्तिष्ठति, तथा पाठ प्रब्रुवाणश्चरति। १२. केवलं पाठमात्रेणैव-श्रुतवान्। १३ अर्थ. पुष्पफल, अर्थवर्जिताम्। १४. स्वार्थबोधनेन उपकारित्वात् सखिभूत वेद य. पुमान् तित्याज तत्याज परार्थविनियोगेन त्यजति। १५ भागो भजनीय.—कश्चिदर्थो नास्ति।

यदी शृणोत्यलकं[1] शृणोति,
नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥

—१०।७१।६

२२०. अक्षण्वंतः कर्णवन्तः सखायो[2],
[3]मनोजवेष्वसमा बभूवु.[4]।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे,
ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ।

—१०।७१।७

२२१ असत [5]सदजायत ।

—१०।७२।२

२२२. अश्वादियायेति[6] यद् वदन्त्योजसो[7] जातमुतमन्य एनम् ।

—१०।७३।१०

२२३ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो,
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।

—१०।८१।३

२२४ सत्येनोत्तभिता[8] भूमिः ।

—१०।८५।१

२२५ ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति ।

—१०।८५।२

२२६. नवो नवो भवति जायमानो,
ऽह्नांकेतुरुषसामेत्यग्रम् ।

—१०।८५।१९

२२७. गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो[9],
वशिनी[10]त्वं विदथमा[11] वदासि ।

—१०।८५।२६

---

१. अलीकं व्यर्थमेव । २. वाह्येष्विन्द्रियेषु समानज्ञाना इत्यर्थः । ३. मनसा गम्यन्ते इति मनोजवा. प्रज्ञाद्या. तेषु । ४. असमाः अतुल्याः । ५. सत्—नामरूपविशिष्टम् । ६ अश्वाद्—आदित्याद् इयाय उदितवानिति । ७. बलाज्जातम् । ८. उपरि स्तंभिता यथा अधो न पतेत् । यद्वा सत्येन अनृतप्रति-

जन) होती है। वह जो सुनता है (अध्ययन करता है), सब व्यर्थ सुनता है, क्यो कि वह सुकृत के मार्ग को नही जानता है।

२२०. आँख-कान आदि बाह्य इन्द्रियो का एक जैसा ज्ञान रखनेवाले भी मानसिक प्रतिभा मे एक जैसे नही होते हैं, कुछ लोग मुख तक गहरे जल वाले तथा कुछ लोग कमर तक गहरे जलवाले जलाशय के समान होते हैं। और कुछ लोग स्नान करने के सर्वथा उपयुक्त गभीर ह्रद के समान होते हैं।

२२१ असत् (अव्यक्त) से सत् (व्यक्त) उत्पन्न हुआ है।

२२२. कुछ लोगो का कथन है कि इन्द्र आदित्य से उत्पन्न हुए हैं, परन्तु मैं जानता हूँ कि वे ओजस् (बल) से उत्पन्न हुए है।

२२३. विश्वकर्मा दिव्य आत्मा के आँख, मुख, बाहु और चरण सभी ओर होते हैं। अर्थात् उनकी ओर से होने वाला निर्माण सर्वाङ्गीण होता है, एकागी नही।

२२४. सत्य से ही पृथ्वी अधर मे ठहरी हुई है। अथवा सत्य से ही पृथ्वी धान्य एव सस्य आदि से फलती है।

२२५. ऋत (सत्य अथवा कर्म) से ही आदित्य (सूर्य आदि देव) अपना अस्तित्त्व बनाये हुए हैं।

२२६. दिन का सूचक सूर्य प्रतिदिन प्रातःकाल नया-नया होकर जन्म लेता है, उदय होता है।

२२७. हे कन्ये, पतिगृह मे जाओ और गृहपत्नी (गृहस्वामिनी) बनो। पति की आज्ञा मे रहते हुए पतिगृह पर यथोचित शासन करो।

योगेन धर्मेण भूमिरुत्तभिता उद्धृता फलिता भवतीत्यर्थं, असति सत्ये भूम्या सस्यादयो न फलन्ति। ९. गृहस्वामिनी भवसि। १०. पत्युर्वशे वर्तमाना। ११. पतिगृहम्।

२२८. पतिर्बन्धेषु बध्यते ।

—१०।८५।२८

२२९. परा देहि[1] शामुल्यं[2] ब्रह्मभ्यो वि भजा[3] वसु ।

—१०।८५।२९

२३०. जाया विशते पतिम् ।

—१०।८५।२९

२३१. सुगेभिर्दुर्गमतीताम् ।

—१०।८५।३२

२३२. सुमङ्गलीरियं[4] वधूरिमा समेत[5] पश्यत ।

—१०।८५।३३

२३३ इहैव स्तं मा वि यौष्टं[6] विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥

—१०।८५।४२

२३४. अदुर्मङ्गलीः[7] पतिलोकमा विश,
शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।

—१०।८५।४३

२३५. अघोरचक्षु[8]रपतिघ्न्येधि[9] शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।

—१०।८५।४४

२३६. सम्राज्ञी श्वसुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥

—१०।८५।४६

२३७. समञ्जन्तु[10] विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।

—१०।८५।४७

---

१. परात्यज । २. शमल—शारीरमल, शरीरावच्छिन्नस्य मलस्य । ३. प्रयच्छ । ४. सुगैमार्ग । ५. शोभनमगला । ६. सर्वे आशी. कर्तारः समेत-संगच्छत । ७ मा पृथग् भूतम् । ८. या मगलाचारान् दूषयति सा दुर्मङ्गली,

२२८ गृहपति कर्तव्य के बन्धनो मे बँधा हुआ है।

२२९. हे गृहस्वामिनी ! तुम मलिनवस्त्रो का त्याग करो, और ब्राह्मणो (विद्वानो) को दान दो।

२३०. योग्य पत्नी, पति मे मिल जाती है—अर्थात् पति के मन, वचन, कर्म के साथ एकाकार हो जाती है।

२३१. सुगम मार्गों से दुर्गम प्रदेश को पार कर जाइए।

२३२. यह गृहवधू सुमंगली है, शोभन कल्याणवाली है। आशीर्वाद देने वाले सब लोग आएँ और इसे देखें।

२३३ वर और वधू ! तुम दोनो यहाँ प्रेम से रहो, कभी परस्पर पृथक् मत होना। तुम पूर्ण आयु तक पुत्र पौत्रो सहित अपने घर मे आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करते रहो।

२३४. हे गृहस्वामिनी, तुम सामाजिक मगलमय आचार विचारो को दूषित न करती हुई पतिगृह मे निवास करना, तथा हमारे द्विपद और चतुष्पद अर्थात् मनुष्य और पशु सब के लिए कल्याणकारिणी रहना।

२३५. हे वधू ! तुम्हारे नेत्र सदा स्नेहशील निर्दोष हो। तुम पति के लिए मंगल मयी, एवं पशुओ के लिए भी कल्याणकारिणी बनो। तुम्हारा मन सदा सुन्दर रहे, और तुम्हारा सौंदर्य अथवा तेजस्विता भी सदा शुभ रहे।

२३६. हे वधू ! तुम सास, श्वसुर, ननद और देवरो की सम्राज्ञी (महारानी) बनो, अर्थात् सब परिवार के ऊपर सेवा एवं प्रेम के माध्यम से प्रभुत्व प्राप्त करो।

२३७. सभी देवता हम दोनो (पति पत्नी) के हृदयो को परस्पर मिला दें। अथवा लौकिक एव लोकोत्तर आदि सभी विषयो मे हम दोनो के हृदयो को प्रकाशयुक्त (विचारशील) करे।

ततोऽन्या अदुर्मङ्गली, तादृशी सती। ९. क्रोधाद् अभयकरचक्षुरेधि—भव।
१० लौकिकवैदिकविपयेपु प्रकाशयुक्तानि कुर्वन्तु इत्यर्थ।

२३८ न मत् स्त्री सुभसत्तरा... विश्वस्मादिन्द्र[2] उत्तरः[3]।

—१०।८६।६

२३९ परा शृणीहि तपसा यातुधानान्।

—१०।८७।१४

२४० गीर्ण भुवनं तमसापगूल्हमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ।

—१०।८८।२

२४१ त्व विश्वस्य जगतश्चक्षुरिन्द्रासि चक्षुष.[4]।

—१०।१०२।१२

२४२ उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुः।

—१०।१०७।२

२४३ दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति, दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां, यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय॥

—१०।१०७।५

२४४. दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्।

—१०।१०७।७

२४५ दक्षिणान्नं वनुते।

—१०।१०७।७

२४६. न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्,
न रिष्यन्ति न व्ययन्ते ह भोजाः।
इदं यद् विश्वं भुवनं स्वश्चैतत्,
सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति॥

—१०।१०७।८

२४७ भोजं देवासोऽवता भरेषु[5]।

—१०।१०७।११

---

१. अतिशयेन सुभगा। २. मम पतिरिन्द्र। ३. उत्कृष्ट.। ४. चक्षुष्मत.।
५. भरा. संग्रामा तेषु।

२३८. मुझसे बढ़कर अन्य कोई स्त्री सुभग (भाग्यशालिनी) नही है ... मेरा भाग्यशाली पति सबसे श्रेष्ठ है।

२३९. अपने तपस्तेज से दुर्जनो (राक्षसो) को पराभूत कर दो।

२४० (अज्ञानरूप) अन्धकार विश्व को ग्रस लेता है, उसमे सब कुछ छुप जाता है। परन्तु (ज्ञानरूप) अग्नि के प्रकट होते ही सब कुछ प्रकाशमान हो जाता है।

२४१. हे इन्द्र ! तुम समग्र विश्व के नेत्र हो, नेत्र वालो के भी नेत्र हो।

२४२ जो लोग दक्षिणा (दान) देते है, वे स्वर्ग मे उच्च स्थान पाते हैं।

२४३. दानशील व्यक्ति प्रत्येक शुभ कार्य मे सर्वप्रथम आमन्त्रित किया जाता है, वह समाज मे ग्रामणी अर्थात् प्रमुख होता है, सब लोगो मे अग्रस्थान पाता है। जो लोग सबसे पहले दक्षिणा (दान) देते है, मैं उन्हे जन-समाज का नृपति (स्वामी एवं रक्षक) मानता हूँ।

२४४. विद्वान् व्यक्ति दक्षिणा को देहरक्षक कवच के समान पापो से रक्षा करने वाली मानते हैं।

२४५. दक्षिणा (दान) ही मानवजाति को अन्न प्रदान करती है।

२४६. दाताओ की कभी मृत्यु नही होती, वे अमर हैं। उन्हे न कभी निकृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, न वे कभी पराजित होते हैं, और न कभी किसी तरह का कष्ट ही पाते है। इस पृथ्वी या स्वर्ग मे जो कुछ महत्वपूर्ण है, वह सब दाता को दक्षिणा से मिल जाता है।

२४७. संकटकाल मे देवता लोग दाता की रक्षा करते हैं।

२४८. भोज. शत्रून्त्समनीकेषु[1] जेता ।

—१०।१०७।११

२४९. दुर्गां दधाति परमे व्योमन् ।

—१०।१०९।४

२५०. सुपर्णं विप्रा. कवयो वचोभि-
रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।

—१०।११४।५

२५१. स्वस्तिदा मनसा मादयस्व,
अर्वाचीनो[2] रेवते सौभगाय ।

—१०।११६।२

२५२. न वा उ देवा क्षुधमिद् वध ददु[3]-
[4]रुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यव. ।
उतो रयि. पृणतो नोप दस्य[5]-
त्युतापृणन् मर्डितारं[6] न विन्दते ॥

—१०।११७।१

२५३. य आध्राय[7] चकमानाय पित्वो[8]
ऽन्नवान्त्सन् [9]रफितायोपजग्मुषे[10] ।
स्थिरं मन. कृणुते सेवते पुरोतो,
चित् स मर्डितारं न विन्दते ॥

—१०।११७।२

२५४. स इद् भोजो[11] यो गृहवे[12] ददाति,
अन्नकामाय[13] चरते[14] कृशाय ।

---

१ संग्रामेषु । २. अभिमुखाचनो भव । ३ क्षुध न ददु. न प्राच्छन्, किन्तु वधमित् वधमेव दत्तवन्त. । ४. य. अदत्वा भुक्ते त आशित भुंजान पुरुषमपि । ५. पृणत. प्रयच्छत. पुरुषस्य रयि. धनं नोपदस्यति—न उपक्षीयते, दसु उपक्षये दैवादिक, पृण दाने तौदादिक. । ६. आत्मन· सुखयितार न विन्दते,

२४८. दाता ही युद्ध मे आक्रमणकारी शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है।

२४९. तप एवं सदाचार के प्रभाव से निम्नस्तर के व्यक्ति भी उच्च स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

२५०. क्रांतदर्शी मेधावी विद्वान् एक दिव्य (सत्य) तत्त्व का ही नाना वचनो से अनेकविध वर्णन करते हैं।

२५१ विश्व के प्राणियो को स्वस्ति दो, आनन्द दो, और अन्तर्मन से सदा प्रसन्न रहो। तथा सर्वसाधारण जनता को ऐश्वर्य एव सौभाग्य प्रदान करने के लिए सदा अग्रसर रहो।

२५२. देवो ने सब प्राणियो को यह क्षुधा नही दी है, अपितु क्षुधा के रूप मे उन्हे मृत्यु दी है। अत. जो मृत्युरूपी क्षुधा को अन्नदान से शान्त करता है, वही वस्तुत. दाता है। जो विना दिये खाता है, वह भी एक दिन मृत्यु को प्राप्त होता ही है। दाता का धन कभी कम नही होता और अदानशील व्यक्ति को कही भी कोई सुखी करने वाला नही मिलता।

२५३ जो कठोरहृदय पुरुष धन एवं अन्न से संपन्न होते हुए भी, घर पर आए अन्न की याचना करने वाले क्षुधार्त दरिद्र व्यक्ति को भोजन नही देता है, अपितु उसके समक्ष स्वयं भोजन कर लेता है, उसे सुखी करने मे कोई भी समर्थ नही है।

२५४. घर पर आये अन्न की याचना करने वाले व्यक्ति को जो सद्भाव से अन्न देता है, वस्तुत. वही सच्चा दानी है। उसे यज्ञ का सपूर्ण फल

कुत्रापि न लभते। ७. आध्रो-दुर्वल तस्मै। ८. पित्व.—पितूनन्नानि चक मानाय याचमानाय। ९.रफतिर्हिंसार्थः, दारिद्र्येण हिंसिताय। १०. गृह प्रत्यागताय। ११ भोजा—दाता। १२ प्रतिग्रहीत्रे। १३ अन्न याचमानाय। १४. चरते—गृहमागतवते।

[1]अरमस्मै भवति यामहूता[2],
उतापरीषु[3] कृणुते सखायम् ॥

—१०।११७।३

२५५ न स सखा यो न ददाति सख्ये,
सचाभुवे[4] सचमानाय[5] पित्वः[6] ।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति,
पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥

—१०।११७।४

२५६ पृणीयादिन्नाधमानाय[7] तव्यान्[8],
द्राघीयासमनु पश्येत पन्थाम्[9] ।
ओ हि वर्तन्ते[10] रथ्येव चक्रा,
अन्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः[11] ॥

—१०।११७।५

२५७ मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः[12],
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं,
केवलाघो[13] भवति केवलादी ॥

—१०।११७।६

२५८. वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान्[14],
पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ।

—१०।११७।७

२५९. कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति,
यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।

—१०।११७।७

१. अरमलं पर्याप्तम् । २. यामहुति यज्ञः । ३. अपरीषु अन्यासु शात्रवीषु सेनासु सखायं कृणुते तद्वदाचरतीत्यर्थः । तस्य सर्वे सखाय एव, न शत्रव इत्यर्थः । ४. सर्वदा सहभवनशीलाय । ५ सेवमानाय । ६ पितून्—अन्नानि । ७. नाधमानाय—याचमानाय । ८. तव्यान्—तवीयान् धनैरतिशयेन प्रवृद्ध

प्राप्त होता है और उसके शत्रु भी मित्र होते जाते हैं। अर्थात् उसके सभी मित्र होते हैं, शत्रु कोई नही।

२५५. जो सहायता के लिए आये साथी मित्र की समय पर अन्न आदि की सहायता नही करता है, वह मित्र कहलाने के योग्य नही है। ऐसे लोभी मित्र के घर को छोडकर जब मित्र गण चले जाते है और किसी अन्य उदारहृदय दाता की तलाश करते है तो बन्धुशून्य होने के कारण वह घर घर ही नही रहता।

२५६. सपन्न व्यक्ति को याचक के लिए अवश्य कुछ-न-कुछ देना ही चाहिए, दाता को सुकृत का लबे से लबा दीर्घपथ देखना चाहिए। जैसे रथ का पहिया इधर उधर नीचे ऊपर घूमता है, वैसे ही धन भी विभिन्न व्यक्तियो के पास आता जाता रहता हैं, वह कभी एक स्थान पर स्थिर नही रहता। (अत प्राप्त धन मे से कुछ दान करना ही चाहिए।)

२५७. दान के विचार से रहित अनुदार मन वाला व्यक्ति व्यर्थ ही अन्न (खाद्य सामग्री) पाता है। मैं सच कहता हूँ—एक प्रकार से वह अन्न उसके वध (हत्या) जैसा है, जो गुरुजनो एव मित्रो को नही दिया जाता है। दूसरो को न देकर जो स्वयं अकेला ही भोजन करता है, वह केवल पाप का ही भागी होता है।

२५८. जैसे प्रवक्ता विद्वान अप्रवक्ता से अधिक प्रिय होता है, वैसे ही दान-शील धनी व्यक्ति दानहीन धनी से अधिक जनप्रिय होता है।

२५९. कृषिकर्म करने वाला हल कृषक को अन्न का भोक्ता बनाता है। मार्ग मे चलता हुआ यात्री अपने चरित्र से ऐश्वर्य लाभ करता है।

पुरुष. । ९. सुकृतमार्गम्। १०. ओ हि आ उ आवर्तन्ते खलु, एकत्र न तिष्ठन्तीत्यर्थः। ११. धनानि। १२. दाने मनो यस्य न भवति। १३. केवल-पापवान् भवति, अघमेव केवल तस्य शिष्यते, नैहिक नामुष्मिकमिति। १४. संभक्तृतमः प्रियकरो भवति।

२६०. एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे,
द्विपान् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।

—१०।११७।८

२६१. समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः,
संमातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि,
ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः ॥

—१०।११७।६

२६२ हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा ।
कुवित्[1] सोमस्यापामिति[2] ॥

—१०।११६।८

२६३. दिवि मे अन्यः पक्षोऽधो[3] अन्यमचीकृपम् ।
कुवित् सोमस्यापामिति ।

—१०।११६।११

२६४. अहमस्मि [4]महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः[5] ।

—१०।११६।१२

२६५. स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा[6] सम् ।
अदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥

—१०।१२०।३

२६६. वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।

—१०।१२१।१०

---

१. बहुवारम् । २. सोमम् अपां पीतवानस्मि । ३. अधस्तात् पृथिव्याम् । ४. महामहोऽस्मि—महतामपि महानस्मि । ५ नभौ मध्यस्थाने भवं नभ्यं अन्तरिक्षम् । अन्तरिक्षमभि उदीषितः उद्गतः सूर्य आत्माऽहम् ।

२६०. जिस के पास सपत्ति का एक भाग है, वह दो भाग वाले के पथ पर चलता है, दो भाग वाला तीन भाग वाले का अनुकरण करता है, अर्थात् कामना की दौड़ निरन्तर आगे वढती रहती है।

२६१. मनुष्य के दोनो हाथ एक से हैं, परन्तु उनकी कार्यशक्ति एक-सी नही होती। एकही माँ की सतान दो गायें एक जैसी होने पर भी एक जैसा दूध नही देती। एक साथ उत्पन्न हुए दो भाई भी समान बल वाले नही होते। एक वंश की सतान होने पर भी दो व्यक्ति एक जैसे दाता नही होते।

२६२. प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं इस पृथ्वी को अपनी शक्ति से इधर उधर जहाँ चाहूँ, उठाकर रख सकता हूँ, क्योकि मै अनेक वार सोमपान कर चुका हूँ। (अर्थात् मैंने वह तत्वज्ञान पाया है, जिसके बल पर मैं विश्व मे एक बहुत बडी क्रान्ति ला सकता हूँ।)

२६३. मेरा एक पक्ष (पार्श्व) स्वर्ग मे स्थापित है, तो दूसरा पृथ्वी पर। क्यो कि मै अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ।
(मैंने जीवनदर्शन का वह तत्वज्ञान पाया है कि मैं धरती और स्वर्ग, अर्थात् लोक परलोक, दोनो के कर्तव्य की बहुत अच्छी तरह पूर्ति कर रहा हूँ।)

२६४. मैं अन्तरिक्ष मे उदय होने वाला सूर्य हूँ, मै महान् से भी महान् हूँ।

२६५. तुम स्वादु (गृह और धनादि प्रिय) से भी अधिक स्वादुतर (प्रियतर) सन्तान को स्वादु (प्रिय) रूप माता पिता के साथ संयोजित करो। मधु को मधु के साथ सब ओर से अच्छी तरह मिश्रित करो।

२६६. हम सब धन (ऐश्वर्य) के स्वामी हो, दास नही।

---

६. स्वादो.—प्रियाद् गृहधनादेरपि स्वादीय.—स्वादुतरं प्रियतरं अपत्यम्, स्वादुना—स्वादुभूतेन मिथुनेन मातापित्रात्मकेन ससृज—सयोजय।

२६७ अहं राष्ट्री[1] संगमनी[2] वसूनां,
चिकितुषी[3] प्रथमा यज्ञियानाम् ।

—१०।१२५।३

२६८ अमन्तवो[4] मां त उपक्षियन्ति[5] ।

—१०।१२५।४

२६९ मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति ।

—१०।१२५।४

२७०. यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि ।

—१०।१२५।५

२७१. अहं जनाय समदं[6] कृणोमि,
अहं द्यावापृथिवी आ विवेश ।

—१०।१२५।६

२७२ परो दिवा पर एना पृथिव्यै-
तावती महिना सं बभूव।

—१०।१२५।८

२७३. नेतार ऊ षु णस्तिरः ।

—१०।१२६।६

२७४. मह्यं नमन्तां[7] प्रदिशश्चतस्रः[8] ।

—१०।१२८।१

२७५. ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु,
मह्यं वातः पवतां कामे अस्मिन् ।

—१०।१२८।२

---

१. राष्ट्री ईश्वरनामैतत्, सर्वस्य जगत ईश्वरी । २. संगमयित्री—उपासकानां प्रापयित्री । ३. चिकितुषी—यत्साक्षात्कर्तव्यं परं ब्रह्म तद्ज्ञानवती । ४. अजानन्त । ५ संसारेण हीना भवन्ति । ६. समानं माद्यन्ति अस्मिन् इति

२६७. मैं वाग्देवी समग्र विश्व की अधीश्वरी हूँ, और अपने उपासको को ऐश्वर्य देने वाली हूँ। मैं ज्ञान से संपन्न हूँ और यज्ञीय (लोकहित कर्मों के) साधनो मे सर्वश्रेष्ठ हूँ।

२६८. जो मुझ वाग्देवी को नही जानते, वे संसार मे क्षीण अर्थात् दीन-हीन हो जाते हैं।

२६९. जो भी व्यक्ति अन्न खाता है वह मेरे (वाग्देवी) द्वारा ही खाता है और जो भी प्रकाश पाता है वह मेरे द्वारा ही पाता है।

२७०. मैं (वाग्देवी) जिसको चाहती हूँ, उसे सर्वश्रेष्ठ वना देती हूँ।

२७१. मैं वाग्देवी मनुष्य के (उत्थान के) लिए निरतर युद्ध (सघर्ष) करती रहती हूँ। मैं पृथिवी और आकाश मे सर्वत्र व्याप्त हूँ।

२७२. मुझ वाग् देवी की इतनी वड़ी महिमा है कि मैं आकाश तथा पृथ्वी की सीमाओ को भी लाँघ चुकी हूँ।

२७३. नेता हमारी विकृतियो को दूर करे।

२७४. मेरे समक्ष चारो दिशाएँ (चारो दिशाओ के निवासी जन) स्वयं ही नत (विनम्र) हो जाएँ।

२७५. मेरे लिए आकाश अन्धकाराच्छन्न न रह कर सब ओर पूर्ण प्रकाशमान हो जाए। पवन भी अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनुकूलगति से प्रवहमान हो!

समदः संग्रामः। ७ एना पृथिव्याः द्वितीया टौस्वेन इति इदम एनादेशः, अस्या पृथिव्या. पर.—परस्तात्। ८. स्वत. एव प्रह्वीभवन्तु। ९. तद्वासिनो जना इत्यर्थ.।

२७६. न हि स्थूर्यृतुथा[1] यातमस्ति ।

—१०।१३१।३

२७७. बाधतां द्वेषो, अभयं कृणोतु ।

—१०।१३१।६

२७८. आ वात वाहि भेषजं,[2] वि वात वाहि[3] यद्रपः[4] ।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥

—१०।१३७।३

२७९. आपः सर्वस्य भेषजीः ।

—१०।१३७।६

२८०. जिह्वा वाचः पुरोगवी[5] ।

—१०।१३७।७

२८१. उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।

—१०।१४५।३

२८२. कथा ग्रामं न पृच्छसि, न त्वा भीरिव विन्दती ।

—१०।१४६।१

२८३. न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य[6] जग्ध्वाय यथाकामं[7] नि पद्यते[8] ॥

—१०।१४६।५

२८४. आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥

—१०।१४६।६

२८५. श्रद्धयाग्निः समिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः ।

—१०।१५१।१

---

१. एकेन धुर्येण युक्त अनः स्थूरीत्युच्यते, ऋतुथा—ऋतौ यद्यस्मिन् काले प्राप्तव्यं तद्योग्यकाले । २. भेषजं—सुखं आवाहि—आगमय । ३. विवाहि—विगमय । ४. अस्मदीय पापम् । ५. यत्र यत्र शब्दः तत्र सर्वत्र तस्य शब्द-

२७६. जिस शकट मे एक ही चक्र हो, वह कभी अपने गन्तव्य स्थान पर नही पहुँच सकता ।

२७७. द्वेष से दूर रहिए, सब को अभय बनाइए ।

२७८. हे पवन ! तू हम सब को सुख शान्ति प्रदान कर, हमारे विकारो को दूर कर । तेरे मे सभी भेषज (औषध) समाये हुए हैं, तू देवो का दूत है, जो सतत चलता रहता है ।

२७९. जल सब रोगो की एक मात्र दवा है । अथवा सब प्राणियो के लिए औषध स्वरूप है ।

२८०. जिह्वा वाणी (शब्द) के आगे-आगे चलती है ।

२८१. मैं (गृहपत्नी) उत्तम हूँ, और भविष्य मे उत्तमो से भी और अधिक उत्तम होऊंगी ।

२८२. तुम क्यो नही गांव मे जाने का मार्ग पूछते ? क्या तुम्हे यहाँ (वन मे) अकेले रहने मे डर नही लगता ?

२८३. अरण्यानी (वन) अपने यहाँ रहे किसी की हिंसा नही करती । यदि व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी न हो तो फिर कोई डर नही है । अरण्यानी मे मनुष्य सुस्वादु फल खाकर अच्छी तरह जीवन गुजार सकता है ।

२८४. कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्य के समान अरण्यानी का सौरभ है, वहाँ कृपि के बिना भी कन्द, मूल, फल आदि पर्याप्त भोजन मिल जाता है । अरण्यानी मृगो की माता है, मै अरण्यानी का मुक्त मन से अभिनन्दन करता हूँ ।

२८५. श्रद्धा से ब्रह्म तेज प्रज्ज्वलित होता है, और श्रद्धा से ही हवि (दानादि) अर्पण किया जाता है ।

स्योच्चारणाय पुरतो व्याप्रियते इत्यर्थ. । ६ द्वितीयार्थे षष्ठी । ७, यथेच्छम् । ८, निर्गच्छति वर्तते ।

प्रियं श्रद्धे ददत:, प्रियं[1] श्रद्धे दिदासत:[2] ।

—१०।१५१।२

२८७. श्रद्धां हृदय्य याकूत्या, श्रद्धया विन्दते वसु ।

—१०।१५१।४

२८८ श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥

—१०।१५१।५

२८९. तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।

—१०।१५४।२

२९० उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः ।

१०।१५९।१

२९१. अहं केतुरहं मूर्धा ऽहमुग्रा विवाचनी ।

—१०।१५९।२

२९२. मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्
उताहमस्मि संजया[3], पत्यौ मे श्लोक[4] उत्तमः ।

—१०।१५९।३

२९३. ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ।

—१०।१६०।४

२९४. शतं जीव शरदो वर्धमानः
शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।

—१०।१६१।४

२९५. अजैष्माद्यासनाम चा ऽभूमानागसो वयम् ।

—१०।१६४।५

---

१. प्रियं अभीष्टफलं कुरु । २. दिदासतः दातुमिच्छतः । ३. सम्यग् जेत्री ।

२८६. हे श्रद्धा ! दान देने वाले का प्रिय कर, दान देने की इच्छा रखने वाले का भी प्रिय कर, अर्थात् उन्हे अभीष्ट फल प्रदान कर !

२८७. सब लोग हृदय के दृढ़ संकल्प से श्रद्धा की उपासना करते है, क्यो कि श्रद्धा से ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

२८८. हम प्रातः काल मे, मध्यान्ह मे, और सूर्यास्त वेला मे अर्थात् सायंकाल मे श्रद्धा की उपासना करते हैं। हे श्रद्धा ! हमे इस विश्व मे अथवा कर्म मे श्रद्धावान कर !

२८९. तप से मनुष्य पापो से तिरस्कृत नही होते, तप से ही मनुष्यो ने स्वर्ग प्राप्त किए है।

२९० सूर्य का उदय होना, एक प्रकार से मेरे भाग्य का ही उदय होना है।

२९१ मैं (गृहपत्नी) अपने घर की, परिवार की केतु (ध्वजा) हूँ, मस्तक हूँ। जैसे मस्तक शरीर के सब अवयवो का संचालक है, प्रमुख है, वैसे ही मै सबकी संचालिका हूँ, प्रमुख हूँ। मैं प्रभावशाली हूँ, मुझे सब ओर से मधुर एव प्रिय वाणी ही मिलती है।

२९२ मेरे पुत्र शत्रुओ को जीतनेवाले वीर है, मेरी पुत्री भी अत्यत शोभामयी है। मैं सबको प्रेम से जीत लेती हूँ, पति पर भी मेरे यशकी श्रेष्ठ छाप है।

२९३ जो पुरुष श्रेष्ठ जनो से द्वेष करते हैं, उन्हे इन्द्र बिना कुछ कहे चुपचाप नष्ट कर डालते है।

२९४. हम दिन प्रतिदिन वर्धमान (प्रगतिशील) रहते हुए सौ शरद, सौ हेमन्त और सौ वसन्त तक जीते रहे।

२९५ आज हम विजयी हुए है, पाने योग्य ऐश्वर्य हमने प्राप्त कर लिया है। आज हम सब दोषो से मुक्त हो चुके हैं।

---

४. श्लोक.—उपश्लोकनीयं यश.।

२९६. अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना ।

—१०।१६६।४

२९७ उषा अप स्वसुस्तमः संवर्तयति[1] ।

—१०।१७२।४

२९८. आ त्वा[2]ऽहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलि[3] ।
विशस्त्वा सर्वा वाच्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ।

—१०।१७३।१

२९९ ध्रुवा द्यौर् ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम् ।

—१०।१७३।४

३००. राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ।

—१०।१७३।५

३०१ अप सेधत दुर्मतिम् ।

—१०।१७५।२

३०२. अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्
आ च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।

—१०।१७७।३

३०३. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।

—१०।१९०।१

३०४. संसमिद्युवसे[4] वृषन्नग्ने [5]विश्वान्यर्य आ ।

—१०।१९१।१

---

१ अपसवर्तयति—आत्मीयेन तेजसा अपगमयति । २. आहार्षम्—अस्मद्राष्ट्रस्य स्वामित्वेनानैषम् । ३. अतिशयेन चलनरहित एव सन् ।

२९६ मैं अपने तेज से सबको अभिभूत करने वाला हूँ। मै विश्वकर्मा (सब कर्म करने मे समर्थ) दिव्य तेज के साथ कर्मक्षेत्र में अवतरित हुआ हूँ।

२९७ उषा अपने तेज से अपनी बहन रात्रिका अंधकार दूर करती है।

२९८. हे राजन्! तुम राष्ट्र के अधिपति बनाये गये हो, तुम इस राष्ट्र के सच्चे स्वामी बनो, तुम अविचल एवं स्थिर होकर रहो। प्रजा तुम्हारे प्रति अनुरक्त रहे, तुम्हे चाहती रहे। तुम से कभी राष्ट्र का अधः पतन न हो, अमगल न हो।

२९९. यह आकाश स्थिर है, यह पृथिवी स्थिर है, पर्वत स्थिर है, और क्या, यह समग्र विश्व स्थिर है। इसी प्रकार यह प्रजा की पालना करने वाला राजा भी सदा स्थिर रहे।

३०० राष्ट्र को स्थिरता से धारण करो।

३०१. दुर्बुद्धि को दूर हटाओ।

३०२. मैंने देखा—गोप (भौतिक पक्ष मे सूर्य, अध्यात्मपक्ष में इन्द्रियो का अधिष्ठाता आत्मा) का पतन नही होता। वह कभी समीप तो कभी दूर, नाना मार्गों मे भ्रमण करता रहता है।

३०३ तेजोमय तप के द्वारा ही मन, वाणी एव कर्म के ऋत अर्थात् सत्य की उत्पत्ति होती है।

३०४. हे बलवान् अग्रणी नेता, आप ही सब को ठीक तरह से सघटित करते हो।

---

४ संयुवसे—मिश्रयसि। ५. विश्वानि—सर्वाणि भूतजातानि।

३०५. सं गच्छध्व स वदध्वं, सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

—१०।१९१।२

३०६. समानो मन्त्रः समितिः समानी,
समानं मन· सह चित्तमेषाम् ।

—१०।१९१।३

३०७ समानी व आकूति[1] समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा व· सुसहासति ॥

—१०।१९१।४

१. संकल्पोऽध्यवसायः ।

३०५. मिलकर चलो, मिलकर बोलो, मिलकर सब एक दूसरे के विचारो को जानो। जैसे कि प्राचीन काल के देव (दिव्य व्यक्ति—ज्ञानीजन) अपने प्राप्त कर्तव्य कर्म मिलकर करते थे, वैसे ही तुम भी मिलकर अपने प्राप्त कर्तव्य करते रहो।

३०६. आप सब का विचार समान (एकसा) हो, आप सब की सभा सब के लिए समान हो। आप सबका मन समान हो और इन सबका चित्त भी आप सब के साथ समान (समभावसहित) हो।

३०७ आप सब का संकल्प एक हो, आप सब के अन्तःकरण एक हो। आप सब का मन (चिन्तन) समान हो, ताकि आप सब अच्छी तरह मिलजुल कर एक साथ कार्य करें।

यजुर्वेद की सूक्तियां

●

१. इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।

—[1]१।५

२. [2]धान्यमसि धिनुहि देवान् ।

—१।२०

३. तेजोऽसि, शुक्रमसि, अमृतमसि ।

—१।३१

४. सत्या नः सन्त्वाशिष. ।

—२।१०

५. स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा ऽअसि वर्चो मे देहि ।

—२।२६

---

१. अङ्क क्रमश. अध्याय एव कण्डिका (मन्त्र) के सूचक है । २. धिनोते. प्रीणनार्थस्य धान्यमिति भवति—उव्वट ।

यजुर्वेद की सूक्तियां*

१. मैं असत्य से हटकर सत्य का आश्रय लेता हूँ।

२. तुम तृप्तिकर्ता धान्य हो, अत. देवताओ (सदाचारी लोगो) को तृप्त करो।

३ तू तेजस्वी है, दीप्तिमान है, और अविनाशी एव निर्दोष होने के कारण अमृत भी है।

४. हमारे आशीर्वचन सत्य हो।

५. हे प्रभो ! तुम स्वयमू हो,—स्वय सिद्ध हो, श्रेष्ठ एव ज्योतिर्मय हो। तुम ब्रह्म तेज के देने वाले हो, अत मुझे भी ब्रह्म तेज प्रदान करो।

---

* वाजसनेयि—माध्यदिन–शुक्ल-यजुर्वेद सहिता, भट्टारक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा संपादित (वि० स० १९८४) संस्करण।

—शुक्ल यजु. सहिता, आचार्य उव्वट तथा महीधर कृत भाष्य सहित, चौखम्बा, (वाराणसी) सस्करण।

नोट—यजुर्वेदान्तर्गत टिप्पण आचार्य उव्वट तथा महीधरकृत भाष्य के है।

६. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो[1] देवस्य[2] धीमहि ।
धियो[3] यो नः प्रचोदयात् ।

—३।३५

७ यद् ग्रामे[4] यदरण्ये[5] यत्सभायां[6] यदिन्द्रिये[7] ।
यदेनश्चकृमा वयमिद तदवयजामहे[8] ॥

—३।४५

८. उर्वारुकमिव वन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ।

—३।६०

९ दीक्षातपसोस्तनूरसि !

—४।२

१०. इयं ते यज्ञिया तनू. ।

—४।१३

११ समुद्रोऽसि विश्वव्यचा ।

—५।३३

१२. मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वम् ।

—५।३४

१३. अग्ने ! नय सुपथा रायेऽअस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

—५।३६

१४. सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ।

—५।४३

---

१. भर्गशब्दो वीर्यवचनः... .अथवा भर्गस्तेजोवचन —उव्वट । २. दानादिगुणयुक्तस्य—उव्वट । ३. धीशब्दो बुद्धिवचनः कर्मवचनो वाग्वचनश्च—उव्वट । ४. ग्रामोपद्रवरूपम् । ५. मृगोपद्रवरूपम् । ६. महाजनतिरस्कारादिकम् ।

६. हम दानादि दिव्य गुणो से समृद्ध सवितादेव के महान् वीर्य एव तेज का ध्यान करते हैं, वह हमारी बुद्धि को सत्कर्मों के निमित्त प्रेरित करे।

७. गांव मे रहते हुए हमने जो जनता के उत्पीडन का पाप किया है, वन मे रहते हुए पशुपीडन का जो पाप किया है, सभा मे असत्य भाषण तथा महान्पुरुषो का तिरस्काररूप जो पाप किया है, इन्द्रियो द्वारा मिथ्याचरण रूप जो पाप हम से वन गया है, उस सव पाप को हम सदाचरण के द्वारा नष्ट करते हैं।

८. जिस प्रकार पका हुआ उर्वारुक (एक प्रकार की ककड़ी या खीरा) स्वय वृन्त से टूट कर गिर पड़ता है, उसी प्रकार हम मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो, अविनाशी अमृततत्व से नही।

९. तू दीक्षा और तप का साक्षात् शरीर है।

१०. यह तेरा शरीर यज्ञ (सत्कर्म) के लिए है।

११. तू सत्य ज्ञान का अगाध समुद्र है। तू कृताकृत के प्रत्यवेक्षण द्वारा सभी सत्कर्मो की उपलब्धि कर सकता है।

१२. मुझे मित्र की आँखो से देखिए।

१३. सभी सन्मार्गों के जानने वाले हे अग्रणी नेता! तू हमे ऐश्वर्य के लिए श्रेष्ठ मार्ग से ले चल।

१४. हम अपने सत्कर्म के वल से समृद्धि की हजारो-हजार शाखाओ के रूप मे अंकुरित हो।

---

७. कलजभक्षणपरस्त्रीगमनादिकम्—महीधर। ८ अवपूर्वो यजिर्नाशने वर्तते। एतत् पापं नाशयामः—उव्वट।

१५. मनस्त आप्यायताम्, वाक्त आप्यायताम्,
प्राणस्त आप्यायताम्, चक्षुस्त आप्यायताम्,
श्रोत्रं त आप्यायताम् ।

—६।१५

१६ यत्ते क्रूरं यदास्थित तत्त आप्यायताम् ।

—६।१५

१७ दिवं ते धूमो गच्छतु, स्वर्ज्योतिः ।

६।२१

१८ मा भेर्मा संविक्था[1] ऊर्जं धत्स्व ।

—६।३५

१९. देवो देवेभ्यः पवस्व[2] ।

—७।१

२०. स्वाङ्कृतोऽसि[3] ।

—७।३

२१. सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीहि ।

—७।१३

२२. सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा ।

—७।१४

२३. कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता ।

—७।४८

२४. कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र !

—८।२

२५. अहं परस्तादहमवस्तात् ।

—८।६

---

१. ओविजी भयचलनयो । सपूर्व. कम्पनमभिधत्ते, मा च त्व कम्पन कृथा.—उव्वट । २. प्रवृत्ति कुरु—उव्वट । ३. स्वयकृतोऽसीति प्राप्ते छन्दसि यकारलोप. ।

१५. तेरे मन, वाणी, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र सब शान्त तथा निर्दोष हो।

१६. जो भी तेरा क्रूर कर्म है, अशान्त भाव है, वह सब शान्त हो जाए।

१७. तेरा धूम (कर्म की ख्याति) स्वर्ग लोक तक पहुँच जाए और ज्योति—तेज अन्तरिक्ष तक।

१८. तुम भयभीत तथा चचल न बनो। अपने अन्तर मे ऊर्जा (स्फूर्ति एव शक्ति) धारण करो।

१६ तू स्वय देव होकर देवो के लिए प्रवृत्ति कर।

२०. तू स्वय कृत है, अर्थात् स्वयं उत्पन्न होने वाला स्वयभू है।

२१. हे वीर! तू विश्व मे वीरो का निर्माण करता चल।

२२. यह विश्व को वरण करने वाली श्रेष्ठ संस्कृति है।

२३ कामना ही देने वाली है, कामना ही ग्रहण करने वाली है।

२४. हे इन्द्र! तू कभी भी क्रूर (हिंसक) नही होता है अर्थात् सदा सौम्य रहता है।

२५. मै विश्व के ऊपर भी हूँ, नीचे भी हूँ। अर्थात् मै पुण्य कर्म से ऊँचा होता हूँ, तो पाप कर्म से नीचा हो जाता हूँ।

स्वयमुत्पन्नोऽसि—उव्वट। ४. स्तरीर्हिंसको नासि—महीधर।

२६ नमो मात्रे पृथिव्यै,
नमो मात्रे पृथिव्यै[1]।

—९।२२

२७ वय राष्ट्रे जागृयाम।

—९।२३

२८. पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मोऽअहं त्वाम्।

—१०।२३

२९ युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितु. सवे[2]।
स्वर्ग्याय शक्त्या।

—११।२

३०. शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः।

—११।५

३१. दिव्यो गन्धर्व.[3] केतपूः केत[4] न. पुनातु,
वाचस्पतिर्वाचं न. स्वदतु।

—११।७

३२. अरक्षसा मनसा तज्जुषेत[5]।

—११।२४

३३. सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो ऽअग्नि.।

—११।३६

३४. संशितं[6] मे ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्[7],
संशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः।

—११।८१

---

१ अभ्यासे भूयासमर्थं मन्यन्त इति द्विर्वचनम्—उव्वट। २. सवे प्रसवे—आज्ञाया वर्तमाना.—महीधर। ३. गां वाचं धारयतीति गवर्वः—महीधर। ४. चित्तवर्ति ज्ञानम्—महीधर। ५ तद् हविर्जुषस्व भक्षयस्व—उव्वट।

२६. मैं माता पृथिवी को नमस्कार करता हूँ, मैं माता पृथिवी को नमस्कार करता हूँ।

२७. हम राष्ट्र के लिए सदा जाग्रत (अप्रमत्त) रहे।

२८. हे पृथिवी माता, न तू मेरी हिंसा कर और न मैं तेरी हिंसा करूँ।

२६ विश्व के स्रष्टा दिव्य आत्माओ की आज्ञा मे रहने वाले हम, एकाग्र मन से पूरी शक्ति के साथ, स्वर्ग (अभ्युदय) के साधक सत्कर्म करने के लिए प्रयत्नशील रहे।

३०. अमृत (अविनाशी ईश्वर) के पुत्र सभी लोग सत्य का सन्देश श्रवण करें।

३१. ज्ञान के शोधक श्रेष्ठ विद्वान हमारे ज्ञान को पवित्र एव स्वच्छ बनाएं, वाणी के अधिपति विद्वान् हमारी वाणी को मधुर एवं रोचक बनाएँ।

३२. क्षोभरहित प्रसन्न मन से भोजन करना चाहिए।

३३. समाज के अग्रणी नेता को पवित्र जिह्वा वाला और हजारो का पालन पोषण करने वाला होना चाहिए।

३४ मेरा ब्रह्म (ज्ञान) तीक्ष्ण है, मेरा वीर्य (इन्द्रिय शक्ति) और बल (शरीर शक्ति) भी तीक्ष्ण है अर्थात् अपना-अपना कार्य करने मे सक्षम है। मैं जिस का पुरोहित (नेता) होता हूँ उसका क्षत्र (कर्म शक्ति) भी विजयशील हो जाता है।

---

६. सम्यक् तीक्ष्णीकृतम्। ७. वीर्यमिन्द्रियशक्तिः, बलं शरीरशक्तिः, तदुभय स्वकार्यक्षमं कृतम्—महीधर।

३५. उदेषां बाहूऽअतिरमुद्वर्चोऽअथो बलम् ।
जिणोमि ब्रह्मणा मित्रानुन्नयामि स्वाँऽअहम् ॥

—११।८२

३६ ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ।

—११।८३

३७. [1]शुक्र-ज्योतिर्विभाहि ।

—१२।१५

३८. त्वं हरसा[2] तपञ्जातवेदः शिवो भव !

—१२।१६

३९. मा हिंसीस्तन्वा प्रजा. ।

—१२।३२

४०. लोकं पृण छिद्रं पृण !

—१२।५४

४१. सं वा मनांसि स व्रता[3] समु [4]चित्तान्याकरम् ।

—१२।५८

४२ देवयानाऽअगन्म तमसस्पारमस्य, [5]ज्योतिरापाम ।

—१२।७३

४३ त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात्[6] ।

१२।१००

४४. नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु[7] ।

—१३।६

---

१. शुक्लकर्मसाधनम्—उव्वट । २ हरसा—ज्योतिषा—उव्वट । ३. व्रत-मिति कर्मनाम । ४. चित्तशब्देन संस्कारा मनोगता उच्यन्ते—उव्वट ।

३५ ब्राह्मणो (ज्ञानयोगी) और क्षत्रियो (कर्मयोगी) मे मेरी भुजाएँ ऊँची है। मेरा ब्रह्मतेज और ब्रह्म-बल विश्व के सभी तेज और बलो को पार कर गया है। मैं अपने ब्रह्मबल से विरोधियो को पराजित करता हूँ और अपने साथियो को उन्नति की ओर ले जाता हूँ।

३६ हमारे मनुष्यो और पशुओ--सभी को अन्न प्रदान करो।

३७. शुक्ल कर्म की ज्योति विविध रूपो मे प्रदीप्त करो।

३८. हे विज्ञ पुरुष ! अपनी ज्योति से प्रदीप्त होता हुआ तू सब का कल्याण करनेवाला शिव बन !

३९. तू अपने शरीर से किसी को भी पीड़ित न कर।

४०. तुम विश्व की रिक्तता को पूर्ण करदो, और छिद्रो को भर दो।

४१. मै तुम्हारे मनो (विचारो) को सुसगत अर्थात् सुसंस्कृत एव एक करता हूँ, मै तुम्हारे व्रतो (कर्मो) और मनोगत संस्कारो को सुसगत करता हूँ अर्थात् एक करता हूँ।

४२. दिव्य कर्म करने वाले देवयानी आत्मा ही इस मोह-वासनारूप अन्धकार के पार होते हैं और परमात्म-रूप ज्योति को प्राप्त होते हैं।

४३. तू दीर्घायु होकर सहस्र अंकुरो के रूप मे उत्पन्न हो,—प्रवर्धमान हो।

४४. पृथ्वी पर के जितने भी लोक (मानव-प्राणी) हैं, मैं उन सभी को नमस्कार करता हूँ।

---

५. परमात्मलक्षणम्—उव्वट। ६ वल्श शब्दोऽकुरवचन.—उव्वट। ७. सर्पशब्देन लोका उच्यन्ते—महीधर।

४५ ऊर्ध्वो भव !

—१३।१३

४६. काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि ।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च ॥

—१३।२०

४७. गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ।

—१३।४३

४८. वसन्तः प्राणायनः ।

—१३।५४

४९. मनो वैश्वकर्मणम् ।

—१३।५५

५०. इदमुत्तरात् स्वः ।

—१३।५७

५१. इयमुपरि मतिः[1] ।

—१३।५८

५२. विश्वकर्म ऽऋषिः[2] ।

—१३।५८

५३. सत्याय सत्यं जिन्व....धर्मणा[3] धर्म जिन्व[4] ।

—१५।६

५४. श्रुताय श्रुतं जिन्व ।

—१५।७

५५ मा हिंसीः पुरुषं जगत् ।

—१६।३

---

१. वाग् वै मतिः—उव्वट । २. वाग् वै विश्वकर्म ऋषिः । वाचाहीदं सर्वं

४५. ऊँचे उठो ! अर्थात् कर्तव्य के लिए खडे हो जाओ ।

४६. हे दूर्वा ! तुम प्रत्येक काण्ड और प्रत्येक पर्व से अंकुरित होती हो, इसी प्रकार हम भी सैकड़ो हजारो अंकुरो के समान सब ओर विस्तृत हो ।

४७. दुग्ध-दान आदि के द्वारा शोभायमान अदिति-(जो कभी भी मारने योग्य नही है) गौ को मत मारो ।

४८. वसन्त प्राणशक्ति का पुत्र है ।

४९. मन विश्व कर्मा का पुत्र है (अत: वह सब कुछ करने मे समर्थ है) ।

५०. उत्तरदिशा मे अर्थात् उत्तम विचार दृष्टि मे स्वर्ग है ।

५१. यह बुद्धि अथवा वाणी ही सर्वोपरि है ।

५२. यह वाणी ही विश्वकर्मा (सब कुछ करने वाला) ऋषि है ।

५३. सत्य के लिए ही सत्य को परिपुष्ट करो....धर्म के लिए ही धर्म को परिपुष्ट करो ।

५४. श्रुत (ज्ञान) के लिए ही श्रुत को परिपुष्ट करो ।

५५. मनुष्य और जगम (गाय, भैंस आदि) पशुओ की हिंसा न करो ।

कृतम्—महीधर । ३. धर्मणा धर्ममिति विभक्तिव्यत्यय । ४. जिन्वतिः तर्पणार्थः —उव्वट ।

५६. नम. सभाभ्य. सभापतिभ्यश्च वो नमः ।

—१६।२४

५७. नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नम. ।

—१६।२६

५८ नमो महद्‌भ्योऽअर्भकेभ्यश्च वो नम ।

—१६।२६

५९ नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नम.,
नमः कुलालेभ्य. कर्मारेभ्यश्च वो नमः ॥

—१६।२७

६०, नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च
नम पूर्वजाय चापरजाय च,
नमो मध्यमाय च ।

—१६।३२

६१ प्रेता[1] जयता नर इन्द्रो व. शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवो ऽनाधृष्या[2] यथासथ ॥

—१७।४६ ×

६२. स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽआ द्या रोहन्ति रोदसी[3] ।
यज्ञं ये विश्वतो धार सुविद्वांसो[4] वितेनिरे ॥

—१७।६८

६३. एताऽअर्षन्ति[5] हृद्यात्समुद्रात्
शतव्रजा[6] रिपुणा नावचक्षे[7] ।

---

१. प्रकर्षेण गच्छत । २. केनाऽपि अतिरस्कार्या भवत—महीधर । × ऋग्वेद १०।१०३।१३ । ३ रुणद्धि जरामृत्युशोकादीन् सा रोदसी—महीधर । ४ सुविद्वास. ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिण:—उव्वट । ५ एता वाच.

५६. सभी सभाओ (लोकहितकारी संगठन) और सभापतियो को हमारा नमस्कार है।

५७. राष्ट्ररक्षक सेनाओ और सेनापतियो को नमस्कार है।

५८ छोटे बडे सभी को नमस्कार है।

५९. शिल्पविद्या के विशेषज्ञ, रथकार (याननिर्माता), कुलाल (कुम्हार) एवं कर्मार (लुहार)—सभी को नमस्कार है।

६० बड़ो को नमस्कार है, छोटो को नमस्कार है, तथा भूत, भविष्य एव वर्तमान के सभी श्रेष्ठ जनो को नमस्कार है।

६१. हे वीरपुरुषो! दृढता के साथ आगे बढो, विजय प्राप्त करो। इन्द्र (तुम्हारा आत्मचैतन्य) तुम्हारा कल्याण करे, तुम्हारी भुजाएँ अत्यत प्रचण्ड पराक्रम शाली हो, ताकि कोई भी प्रतिद्वन्द्वी शत्रु तुम्हे तिरस्कृत न करने पाए।

६२. जो ज्ञान एव कर्म के समन्वयकारी विद्वान् विश्व के धारण करने वाले सत्कर्मरूप यज्ञ का अनुष्ठान करते है, वे स्वर्ग लोक मे गमन करते हुए शोकरहित दिव्य स्थिति को प्राप्त होते हैं, उन्हे फिर किसी की अपेक्षा नही रहती है।

६३. श्रद्धा के जल से आप्लुत चिन्तनशील हृदयरूपी समुद्र से सैकडो ही अर्थरूप गतियो से युक्त वाणियां निकलती हैं, जो घृत-धारा के समान अवि-

---

अर्षन्ति उद्गच्छन्ति... श्रद्धोदकप्लुतादेव.. याथात्म्यचिन्तनसन्तानगर्भात्— ६ बहुगतयो बह्वर्था। ७. कुतार्किरूपशत्रुसंघातेन नापवदितु शक्या.— उव्वट।

घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि[1]
हिरण्ययो वेतसो[2] मध्यऽआसाम् ।

—१७।९३

६४. सम्यक् स्रवन्ति सरितो न[3] धेना[4]
ऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमाना[5] ।

—१७।९४

६५. सत्यं च मे श्रद्धा च मे
जगच्च मे धन च मे विश्वं च मे ।
महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे
जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

—१८।५

६६ ज्योतिर्[6] यज्ञेन कल्पतां, स्वर्यज्ञेन कल्पताम् ।

—१८।२९

६७. विश्वाऽआशा वाजपतिर्[7]जयेयम् ।

—१८।३३

६८. पयस्वतीः[8] प्रदिशः सन्तु मह्यम् ।

—१८।३६

६९. प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः ।

—१८।४३

७०. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्[9] ॥

—१८।४८

---

१. पश्यामि । २. हिरण्ययो हिरण्मयो दीप्यमानो वेतसोऽग्निः ।.... अग्निर्हि वाचामधिष्ठात्री देवता—महीधर । ३. नद्य इवानवच्छिन्नोदकसन्तान-प्रवृद्धा । ४. धेना वाचः । ५ विविच्यमाना.—उव्वट । ६. ज्योतिः स्वयं-

च्छिन्न रूप से वहती हुई, कुतार्किकरूप शत्रुओ द्वारा अवरुद्ध एव खण्डित नही की जा सकती। मैं इन वाणियो के मध्य मे ज्योतिर्मान अग्नि (तेज) को सब ओर देखता हूँ।

६४. अन्तर्हृदय मे चिन्तन से पवित्र हुई वाणियाँ ही नदियो के समान अविच्छिन्न धारा से भली भांति प्रवाहित होती हैं।

६५. सत्य, श्रद्धा, यह स्थावर जगमरूप विश्व एवं ऐश्वर्य, दीप्ति, क्रीड़ा एव हर्ष, भूत एव भविष्य के सुख, सुभाषित एवं सुकृत—सब कुछ मुझे यज्ञ (सत्कर्म) से प्राप्त हो।

६६. यज्ञ (लोकहितकारी श्रेष्ठकर्म) के प्रभाव से हमे परमज्योतिरूप ईश्वर की प्राप्ति हो, स्वर्गीय सुखो की प्राप्ति हो।

६७ मैं अन्न से समृद्ध होकर सब दिशाओ को विजय कर सकता हूँ।

६८. मेरे लिए सभी दिशा एवं प्रदिशाएँ रस देन वाली हो।

६९. यह मनरूपी गन्धर्व प्रजापति और विश्वकर्मा है—अर्थात् प्रजा का पालन करने वाला एवं विश्व के सब कार्य करने मे समर्थ है।

७०. हे देव! हमारे ब्राह्मणो (ज्ञानयोगियो) को तेजस्वी करो! हमारे क्षत्रियो (कर्मयोगियो) को तेजस्वी करो। हमारे वैश्यो (एक दूसरे के सहयोगी व्यवसायी जनो) को तेजस्वी करो और हमारे शूद्रो (सेवाव्रती लोगो) को भी तेजस्वी करो और मुझ मे भी विश्व के सब तेजो से वढकर सदा अविच्छिन्न रहने वाले दिव्य तेज का आधान करो।

प्रकाश. परमात्मा—महीधर। ७. वाजपतिः समृद्धान्न. सन्—महीधर। ८. पयस्वत्यो रसयुता.—महीधर। ९. अनुत्सन्नधर्माणो यथावयं दीप्त्या भवेम तथा कुर्वित्याशय—उव्वट।

७१ तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बल मयि धेहि, ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि।

—१९।९

७२. वाचा सरस्वती भिषग्।

—१९।१२

७३ पशुभि पशूनाप्नोति।

—१९।२०

७४. इडाभिर्[1]भक्षानाप्नोति सूक्तवाकेनाशिष.।

—१९।२९

७५. व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा [2]श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते।

—१९।३०

७६. आरे बाधस्व दुच्छुनाम्[3]।

—१९।३८

७७ पुनन्तु मा देवजनाः,
पुनन्तु मनसा धियः,
पुनन्तु विश्वा भूतानि।

—१९।३९

७८. रत्नमभजन्त धीरा[4]।

—१९।५२

---

१ भक्षैर्भक्षान्—उव्वट। २ श्रदिति (निघ० ३, १०, २) सत्यनाम, श्रत्-

७१ हे देव, तुम तेज.स्वरूप हो, अत मुझे तेज प्रदान करो । तुम वीर्य (वीरकर्म, वीरता) स्वरूप हो, अत' मुझे वीर्य प्रदान करो ।
तुम बल (शक्ति) स्वरूप हो, अत मुझे बल प्रदान करो। तुम ओज: स्वरूप (कान्तिस्वरूप) हो, अत मुझे ओजस् प्रदान करो ।
तुम मन्यु (मानसिक उत्साह) स्वरूप हो, अत मुझे मन्यु प्रदान करो ।
तुम सह (शाति, सहिष्णुता) स्वरूप हो, अत' मुझे सह प्रदान करो ।

७२. वाणी ज्ञान की अधिष्ठात्री होने से सरस्वती है, और उपदेश के द्वारा समाज के विकृत आचार-विचाररूप रोगो को दूर करने के लिए वैद्य है ।

७३ पशुता के विचारो से पशुत्व प्राप्त होता है ।

७४. भोजन से भोजन मिलता है और आशीर्वाद से आशीर्वाद । अर्थात् जो दूसरो को भोजन एव आशीर्वाद देता है, बदले मे उसको भी भोजन एवं आशीर्वाद प्राप्त होता है ।

७५ व्रत (सत्कर्म के अनुष्ठान) से दीक्षा (योग्यता) प्राप्त होती है, दीक्षा से दक्षिणा (पूजा प्रतिष्ठा ऐश्वर्य) प्राप्त होती है । दक्षिणा से श्रद्धा प्राप्त होती है और श्रद्धा से सत्य (ज्ञान, अनन्त ब्रह्म) की प्राप्ति होती है।

७६. दुर्जनरूपी दुष्ट कुत्तो को दूर से भगा दो ।

७७ देव जन (दिव्यपुरुष) मुझे पवित्र करे, मन (चिन्तन) से सुसगत धी (बुद्धि अथवा कर्म) मुझे पवित्र करे । विश्व के सभी प्राणी मुझे पवित्र करे अर्थात् मेरे सत्कर्म मे सहयोगी बने ।

७८. धीर पुरुष ही रत्न (कर्म का सुन्दर फल) पाते हैं ।

सत्यं धीयते यस्या सा श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धि—महीधर । ३. शुना चात्र दुर्जनप्रभृतयो लक्ष्यन्ते—उव्वट ।

७९. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।

—१९।७७

८०. शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणोऽअमृतं सम्राट्[1] चक्षुर्विराट्[2] श्रोत्रम्।

—२०।५

८१. जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो, मनो मन्युः स्वराड् भामः।

—२०।६

८२. बाहू मे बलमिन्द्रिय[3] हस्तौ मे कर्मवीर्यम्[4]।
आत्मा क्षत्र[5]मुरो मम।

—२०।७

८३. जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि
विशि राजा प्रतिष्ठितः।

—२०।९

८४. यदि जाग्रद् यदि स्वप्नऽएनासि चकृमा वयम्।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः।

—२०।१६

८५. [6]वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्।

—२०।२३

८६. यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।

—२०।२५

---

१. सम्यक् राजते सम्राट्—महीधर। २. विविध राजमानमस्तु—महीधर। ३. इन्द्रिय च बलं स्वकार्यक्षमम्—महीधर। ४ सत्कर्मकुशलौ सामर्थ्यवन्तौ च स्तामित्यर्थः—महीधर। ५ क्षतात् त्राणकरमस्तु—महीधर।

७९. प्रजापति ने सत्यासत्य को देखकर उन्हे विचारपूर्वक पृथक्-पृथक् स्थापित किया ! असत्य मे अश्रद्धा को और सत्य मे श्रद्धा को स्थापित किया ।

८०. मेरा शिर श्रीसंपन्न हो, मेरा मुख यशस्वी हो, मेरे केश और श्मश्रु कान्तिमान हो ! मेरे दीप्यमान प्राण अमृत के समान हो, मेरे नेत्र ज्योतिर्मय हो, मेरे श्रोत्र विविध रूप से सुशोभित हो ।

८१. मेरी जिह्वा कल्याणमयी हो, मेरी वाणी महिमामयी हो, मेरा मन प्रदीप्त साहसी हो, और मेरा साहस स्वराट् हो, स्वय शोभायमान हो, उसे कोई खण्डित न कर सके ।

८२. मेरे दोनो बाहु और इन्द्रियाँ बलसहित हो, कार्यक्षम हो । मेरे दोनो हाथ भी कुशल हो, मजबूत हो । मेरी आत्मा और हृदय सदैव जनता को दुःखो से मुक्त करने मे लगे रहे ।

८३. मै अपनी जंघाओ और पैरो से अर्थात् शरीर के सब अंगो से धर्मरूप हूँ । अतः मै अपनी प्रजा मे धर्म से प्रतिष्ठित राजा हूँ ।

८४. मैने जागृत अवस्था मे अथवा सोते हुए जो पाप किए हैं, उन सब पापो से सूर्य (ज्योतिर्मय महापुरुष) मुझे भली प्रकार मुक्त करें ।

८५. मैं विश्वकल्याणकारी ईश्वरीय ज्योति होऊँ ।

८६. जहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय समान मन वाले होकर अवियुक्त भाव से एक साथ चलते हैं, कर्म करते है । और जहाँ देवगण अग्नि (आध्यात्मिक तेज) के साथ निवास करते हैं, मैं उस पवित्र एवं प्रज्ञानरूप दिव्य लोक (जीवन) को प्राप्त करूँ ।

---

६ विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितो वैश्वानर. परमात्मा, तद्रूप ज्योति ब्रह्मैव भूयासम्—महीधर ।

८७ भद्रवाच्याय प्रेषितो[1]
मानुष. सूक्तवाकाय[2] सूक्ता ब्रूहि ।

—२१।६१

८८. धिया भर्ग[3] मनामहे ।

—२२।१४

८९. क स्विदेकाकी चरति, कऽउ स्विज्जायते पुनः ?
किं स्विद्धिमस्य भेषजं, किम्वावपनं[4] महत् ?

सूर्य एकाकी चरति, चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं, [5]भूमिरावपनं महत् ॥

—२३।९-१०

९० का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः, किं स्विदासीद् बृहद्वय. ।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला, का स्विदासीत् पिशङ्गिला ?

[6]द्यौरासीत्पूर्वचित्ति[7]रश्वऽआसीद् बृहद्वय. ।
[8]अविरासीत् पिलिप्पिला, रात्रिरासीत् पिशङ्गिला[9] ॥

—२३।११-१२

९१. किं स्वित्सूर्यसम ज्योतिः किं समुद्रसमं सर ?
किं स्वित्पृथिव्यै वर्षीय कस्य मात्रा न विद्यते ?

ब्रह्म सूर्यसम ज्योतिर्द्यौ. [10]समुद्रसम सर ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ।

—२३।४७-४८

---

१ भद्र ब्रूहीति प्रेषितोऽसीत्यर्थ —महीधर । २. सूक्तवचनाय—महीधर । ३. भर्ग—भजनीय धनम्—उव्वट । ४ उप्यते निक्षिप्यतेऽस्मिन्निति आवपनम् —उव्वट । ५ अय वै लोक आवपनं महद्, अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठतीतिश्रुतेः —महीधर । ६. द्यु ग्रहणेनात्र वृष्टिर्लक्ष्यते । सा हि पूर्वं सर्वैः प्राणिभिश्चिन्त्यते । ७. पूर्वस्मरणविषया—महीधर । ८. अवि पृथिव्यभिधीयते—उव्वट ।

८७ मनुष्य कल्याणकारी सुभाषित वचनो के लिए ही प्रेषित एव प्रेरित है, अत तुम कथनयोग्य सूक्तो (सुभाषित वचनो) का ही कथन करो।

८८. हम विचार एव विवेक के साथ ऐश्वर्य चाहते हैं।

८९. कौन अकेला विचरण करता है ? कौन क्षीण होकर पुनः प्रकाशमान हो जाता है ? हिम (शीत) की औषधि क्या है। ? बीज बोने का महान् क्षेत्र क्या है ?

सूर्य अकेला विचरण करता है, चन्द्रमा क्षीण होकर भी पुन. प्रकाशमान हो जाता है। हिम की औषधि अग्नि है, बीज बोने का महान् क्षेत्र यह पृथिवी है, अर्थात् सत्कर्म के बीज बोने का खेत यह वर्तमान लोकजीवन ही है।

९०. जनता द्वारा सर्वप्रथम चिंतन का विषय कौन है ? सब से बडा पक्षी कौन है ? चिकनी वस्तु कौन सी है ? रूप को निगलने वाला कौन है ?

जनता द्वारा सबसे पहले चिंतन का विषय वृष्टि है। अश्व ही गमन करने वाला सब से बडा पक्षी है। रक्षिका पृथिवी ही वृष्टि द्वारा चिकनी (पिलिप्पिला) होती है, रात्रि ही सब रूपो (दृश्यो) को निगलने वाली है।

९१ सूर्य के समान ज्योति कौन सी है ? समुद्र के समान सरोवर क्या है ? पृथिवी से महान् क्या है ? किस का परिमाण (सीमा) नही है।

सूर्य के समान ज्योति ब्रह्म है। समुद्र के समान सरोवर अन्तरिक्ष है। इन्द्र (चैतन्य तत्व) पृथिवी (भौतिक तत्व) से अधिक महान् है, वाणी का परिमाण नही है। ×

---

९. पिशमिति रूपनाम, रात्रिर्हि सर्वाणि रूपाणि गिलति अदृश्यानि करोति—उव्वट। १०. द्यौ अन्तरिक्ष यतो वृष्टिर्भवति—महीधर।

× महीधर 'गौ' से 'गाय' अर्थ लेते हैं—"गो धेनो मात्रा न विद्यते।" उव्वट पृथिवी अर्थ भी लेते हैं—पृथिवी वा गौः।

९२. यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः,[1]
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

—२५।१३×

९३. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय[2] च स्वाय चारणाय[3] च ।

—२६।२

९४. बृहस्पतेऽअति यदर्यो अर्हाद्[4] द्युमद्[5] विभाति[6] क्रतुमज्[7] जनेषु ।
यद्दीदयच्छवस[8]ऽऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ।

—२६।३

९५. उपह्वरे गिरीणां सगमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रोऽअजायत ।

—२६।१५

९६. त्वं हि रत्नधाऽअसि ।

—२६।२१

९७. देवो[9] देवेषु देवः ।

—२७।१२

९८. अश्मा[10] भवतु नस्तनूः ।

—२९।४९

९९. ब्रह्मणे ब्राह्मणं....तपसे शूद्रम् ।

—३०।५

×ऋग्वेद १०।१२१।२, अथर्ववेद ४।२।२ । १. यस्य छाया आश्रयः परिज्ञानपूर्वकमुपासनं अमृत अमृतत्वप्राप्तिहेतुभूतं, यस्य च अपरिज्ञानं मृत्युः मृत्युप्राप्तिहेतभूतम्—उव्वट । यस्य अज्ञानमिति शेष., मृत्यु. ससारहेतुः—महीधर । २. अर्यो वैश्यः—उव्वट । ३. अरणाय च अरण. अपगतोदकः पर इत्यर्थः । ४. ईश्वरयोग्यं धनं देहि—महीधर । ५. द्यौ. कान्तिरस्याऽस्ति द्युमत्—

९२. जिस की शान्त छाया (आश्रय-उपासना) मे रहना ही अमरत्व प्राप्त करना है, और छाया से दूर रहना ही मृत्यु प्राप्त करना है, उस अनिर्वचनीय परम चैतन्य देव की हम उपासना करे ।

९३. मै ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य,—अपने और पराये सभी जनो के लिए कल्याण करने वाली वाणी बोलता हूँ ।

९४. अविनाशी सत्य से जन्म लेने वाले बृहस्पति ! तुम हम लोगो को वह चित्र (नाना प्रकार का) वैभव अर्पण करो, जो श्रेष्ठ गुणीजनो का सत्कार करने वाला और कातिमान् हो, जो यज्ञ (सत्कर्म) के योग्य और जनता मे प्रतिष्ठा पाने वाला हो । । और जो अपने प्रभाव से अन्य ऐश्वर्य को लाने मे समर्थ हो ।

९५ पर्वतो की उपत्यकाओ मे और गगा आदि नदियो के सगम पर ही अपनी श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा ब्राह्मणत्व (ज्ञान शक्ति) की प्राप्ति होती है ।

९६. मानव ! तू रत्नधा (अनेक सद्गुणरूप रत्नो को धारण करने वाला) है ।

९७. देवो मे दानादि गुणो से युक्त ही देव (दीप्तिमान) होता है ।

९८. हमारे शरीर पत्थर के समान सुदृढ हो ।

९९. ब्रह्म (ज्ञान) के लिए ब्राह्मण को और तप के लिए शूद्र को नियुक्त करना चाहिए ।

महीधर । ६. यद् धनं जनेषु लोकेषु विभाति विविधं शोभते—महीधर । ७. यज्ञा. क्रियन्ते तादृशं धन देहि—महीधर । ८. यद् धनं शवसा-बलेन दीदयत् दापयति प्रापयति वा धनान्तरं तद्धन देहीत्यर्थ. । ९ देवो दानादिगुणयुक्तः—उव्वट । १० पाषाणतुल्यदृढा—महीधर ।

१००. धर्माय सभाचरम् ।

—३०।६

१०१. स्वप्नाय अन्धमधर्माय बधिरम् ।

—३०।१०

१०२ मर्यादायै प्रश्नविवाकम् ।

—३०।१०

१०३ वैरहत्याय पिशुनम् ।

—३०।१३

१०४. स्वर्गाय लोकाय भागदुघम् ।[1]

—३०।१३

१०५. भूत्यै जागरणम्[2], अभूत्यै स्वपनम्[3] ।

—३०।१७

१०६. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्[4] ।

—३१।१

१०७. वेदाहमेत पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं[5] तमसः परस्तात्[6] ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

—३१।१८

१०८. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ[8] ।

—३१।२२

---

१. भाग दुग्धे—भागदुघस्त विभागप्रदम्—महीधर । २ जागरूकम्—महीधर । ३. शयालुम्—महीधर । ४. दश च तानि अंगुलानि दशांगुलानीन्द्रियाणि—उव्वट । ५ स्वप्रकाशम्—उव्वट । ६. तमोरहितम् इत्यर्थः । तमः

१००. सभासद् धर्म के लिए चुना जाता है।

१०१. अन्धा (विवेकहीन) केवल स्वप्न देखने के लिए है, और बहरा (हित शिक्षा न सुनने वाला) केवल अधर्म के लिए है

१०२. प्रश्नो का विवेचन करने वाला विचारक मर्यादा के लिए नियुक्त होना चाहिए।

१०३ पिशुन वैर तथा हत्या के लिए है।

१०४. प्राप्त संपत्ति का उचित भाग साथियो को देने वाला स्वर्ग का अधिकारी होता है।

१०५. सदा जाग्रत रहने वाले को भूति (ऐश्वर्य) प्राप्त होती है और सदा सोते रहने वाले को अभूति (दरिद्रता) प्राप्त होती है।

१०६ विराट् पुरुष के हजारो शिर हैं, हजारो नेत्र हैं, हजारो चरण हैं, अर्थात् वह प्राणिमात्र के साथ तदाकार होकर रहता है। वह विश्वात्मा समग्र विश्व को अर्थात् प्राणिमात्र को स्पर्श करता हुआ दस अंगुल (पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ) को अतिक्रमण किए हुए है।

१०७. मे उस सर्वतोमहान्, अन्धकार से रहित, स्वप्रकाशस्वरूप पुरुष (शुद्ध चैतन्य आत्मा) को जानता हूँ। उसको जान लेने पर ही मृत्यु को जीता जाता है। मृत्यु से पार होने के लिए इस (आत्मदर्शन) के सिवा अन्य कोई मार्ग नही है।

१०८. हे आदित्यस्वरूप पुरुष! श्री और लक्ष्मी तेरी पत्नी है।

शब्देनाविद्योच्यते—महीधर। ७. यया सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः, श्रियतेऽनया श्री॰ सम्पदित्यर्थ.। यया लक्ष्यते दृश्यते जनै सा लक्ष्मी. सौन्दर्यमित्यर्थ.—महीधर। ८ पालयित्र्यौ—उव्वट।

१०९ न तस्य प्रतिमा[1]ऽअस्ति।

—३२।३

११०. वेन[2]स्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

—३२।८

१११. तदपश्यत्[3] तदभवत् तदासीत्।

—३२।१२

११२. इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।

—३२।१६

११३. प्रियास: सन्तु सूरय:।

—३३।१४

११४. शेवधिपाऽअरि:।

—३३।८२

११५. ज्योतिषा बाधते तमः।

—३३।९२

११६. अपादिय[4] पूर्वागात्[5] पद्वतीभ्यः[6]।

—३३।९३

११७. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं,
तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं,
तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु॥

—३४।१

---

१. प्रतिमानभूतम्—उव्वट। २. वेनः पण्डितः—उव्वट। ३. तत् तथाभूतमात्मानं अपश्यत्—पश्यति, तदभवत्—तथाभूतं ब्रह्म भवति, तदासीत्—तदेवास्ति—उव्वट। ४. इयमुपा—महीधर। ५. अगात्—आगच्छति—

१०९. परमचैतन्य परमेश्वर की कोई उपमा नही है।

११०. सृष्टि के रहस्य को जानने वाला ज्ञानी हृदय की गुप्त गुहा मे स्थित उस सत्य अर्थात् नित्य ब्रह्म को देखता है, जिसमे यह विश्व एक क्षुद्र नीड (घोसला) जैसा है।

१११. जो आत्मा ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, वह अज्ञान से छूटते ही ब्रह्म रूप हो जाता है। वस्तुतः वह ब्रह्म ही है।

११२ ये ब्राह्मण और क्षत्रिय अर्थात् ज्ञान और कर्म की उपासना करने वाले दोनो मेरी श्री (ऐश्वर्य) का उपभोग करे।

११३. ज्ञानी जन हम सब के प्रीति पात्र हो।

११४. धन से चिपटा रहने वाला अदानशील व्यक्ति समाज का शत्रु है।

११५. ज्योति से ही अन्धकार नष्ट होता है।

११६ यह बिना पैर की उषा पैरो वालो से पहले आ जाती है। अथवा विश्व मे यह बिना पदो की गद्य वाणी पद्य वाणी से पहले प्रकट हुई है।

११७. जो विज्ञानात्मा का ग्रहण करने वाला होने से देव है, जो जाग्रत अवस्था मे इन्द्रियो की अपेक्षा दूर जाता है, उसी प्रकार स्वप्न मे भी जो अतीत, अनागत आदि मे दूर तक जाने वाला है, और जो श्रोत्र आदि ज्योतिर्मती इन्द्रियो मे एक अद्वितीय ज्योति है, वह मेरा मन पवित्र सकल्पो से युक्त हो।

महीधर। ६. यद्वा वाक्पक्षेऽर्थ.....अपाद् पादरहिता गद्यात्मिका त्रयीलक्षणेय वाक्—महीधर।

११८. यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च,
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्नऽऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

—३४।३

११९. यस्मिँश्चित्त[1] सर्वमोतं[2] प्रजानां,
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।

—३४।५

१२०. सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीशुभि[3]र्वाजिन इव ।[4]
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं[5] जविष्ठं,
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

—३४।६

१२१. भग एव भगवान् ।

—३४।३८

१२२ तद्विप्रासो विपन्यवो[6] जागृवांसः[7]समिन्धते[8] ।

—३४।४४[9]

१२३. सप्त ऋषयः[10] प्रतिहिताः शरीरे । सप्त रक्षन्ति [11]सदमप्रमादम् ।

—३४.५५

१२४. द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः, पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः
सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः, सा मा शान्तिरेधि ।

—३६।१७

---

१. सज्ञानम्— उव्वट । २. ओत प्रोत निक्षिप्त, तन्तुसन्ततिः पट इव सर्व ज्ञान मनसि निहितम्— महीधर । ३. रश्मिभिर्नियच्छति—महीधर । ४. उपमाद्वयम् प्रथमायां नयनम् द्वितीयायां नियमनम्, तथा मनः प्रवर्तयति नियच्छति च नरानित्यर्थः— महीधर । ५. अजिर जरारहितम् बाल्ययौवनस्थविरेषु मनसस्तदवस्थत्वात्— महीधर । ६ विगतः पन्युः संसारव्यवहारो येभ्यः

११८. जो विशेष रूप से ज्ञान का जनक है, चेतना का केन्द्र है, धैर्य रूप है, प्रजा के अन्दर की एक ज्योति है, आत्मरूप होने से अमृत है, किंबहुना, जिस के बिना कोई भी कार्य किया जाना संभव ही नही है, वह मेरा मन पवित्र संकल्पो से युक्त हो ।

११९ जिस मन मे प्रजाओ का सब ज्ञान ओत-प्रोत है, निहित है, वह मेरा मन पवित्र सकल्पो से युक्त हो ।

१२०. कुशल सारथी जैसे वेगवान् घोडो को चाबुक मार कर दौडाता है, और समय पर लगाम खीचकर उन्हे नियत्रित भी करता है, वैसे ही जो मन मनुष्यादि सब प्राणियो को कर्म मे प्रवृत्त भी करता है और नियत्रित भी, और जो मन जरा से रहित है, अत्यत वेग वाला है, हृदय में स्थित है, मेरा वह मन कल्याणकारी विचारो से युक्त हो ।

१२१ भग (ज्ञान वैराग्य आदि आत्मगुण) ही भगवान् है ।

१२२. निष्काम, जागरण शील—अप्रमत्त, मेधावी साधक ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रदीप्त करते है।

१२३. शरीर मे स्थित सप्तर्षि (पॉच इन्द्रियाँ, मन ओर बुद्धि) सदा अप्रमत्त भाव से हमारी रक्षा करते हैं ।

१२४. स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथिवी शान्तिरूप हो । जल, औषधि, वनस्पति, विश्वेदेव (समस्त देवगण), पर ब्रह्म और सब ससार शान्तिरूप हो । जो स्वयं साक्षात् स्वरूपत शान्ति है, वह भी मेरे लिए शान्ति करने वाली हो ।

निष्कामा——महीधर । ७. अप्रमत्ता ज्ञानकर्मसु समुच्चयकारिण —महीधर । ८ सम्यग्दीपयन्ति... निर्मलीकुर्वन्ति—महीधर । ९ ऋग्वेद १।२।२१, सामवेद १८,२।५।५ । १० सप्तऋषय'—प्राणा त्वक्चक्षुश्रवणरसना-घ्राणमनोबुद्धिलक्षणा.— महीधर । ११ ऽद सदाकालम्—उव्वट ।

१२५. [1]दृते दृंह मा,
मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्,
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
[2]मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। —३६।१८

१२६. पश्येम शरदः शतं, जीवेम[3] शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्।

—३६।२४[4]

१२७. अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि।

—३७।११

१२८. हृदे[5] त्वा मनसे[6] त्वा।

—३७।१९

१२९. अरिष्टाऽहं[7] सह पत्या भूयासम्।

—३७।२०

१३०. मनसः काममाकूतिं[8] वाचः सत्यमशीय[8]।
पशूनां[9] रूपमन्नस्य रसो यशः
श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा॥

—३९।४

---

१. विदीर्णे शुभकर्मणि दृढीकुरु माम्—उव्वट। २. शान्तं हि मित्रस्य चक्षुः। न वै मित्रः कञ्चन हिनस्ति। न मित्रं कश्चन हिनस्ति—उव्वट। ३. जीवेम—अपराधीनजीवनो भवेम—महीधर। ४. ऋग्वेद ७।६६।१६। ५. हृदय-स्वास्थ्याय। ६. मनः शुद्ध्यर्थम्—महीधर। ७ अनुपहिंसिता। ८. काममभिलापम्, आकुञ्चनमाकूतिः प्रयत्नः—महीधर। ८ अशीय प्राप्नुयाम्—महीधर। ९ रूपं पशुसम्बन्धिनी शोभा—महीधर।

१२५. हे देव ! मुझे शुभ कर्म मे दृढता प्रदान करो। सभी प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं भी सब प्राणियो को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब एक दूसरे को परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।

१२६. हम सौ वर्ष तक अच्छी तरह देखें, सौ वर्ष तक अच्छी तरह स्वतंत्र होकर जीते रहें, सौ वर्ष तक अच्छी तरह सुनें, सौ वर्ष तक अच्छी तरह बोलें और सौ वर्ष तक सर्वथा अदीन होकर रहे।

१२७. हे महावीर ! तुम चंद्र की ज्योत्स्नारूप हो, अग्नि के तेजस्रूप हो और सूर्य के प्रतापरूप हो।

१२८. हे देव ! हृदय की स्वस्थता के लिए, मन की स्वच्छता के लिए हम तुम्हारी उपासना करते हैं।

१२९. मैं अपने पति के साथ सस्नेह अविच्छिन्न भाव से रहूँ।

१३० मेरे मन के संकल्प और प्रयत्न पूर्ण हो, मेरी वाणी सत्य व्यवहार करने मे सक्षम हो, पशुओ से मेरे गृह की शोभा हो, अन्न से श्रेष्ठ स्वाद मिले, ऐश्वर्य और सुयश सब मेरे आश्रित हो।

सामवेद की सूक्तियां

१. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता ।

—पूर्वाचिक १।६।२*

२ यज्ञ इन्द्रमवर्धयत् ।

—२।१।७

३ अव ब्रह्मद्विषो जहि ।

—२।६।१

४. अतीहि मन्युषाविणम् ।

—२।१२।१

५. न क्येवं यथा त्वम् ।

—२।६।१०

---

*अङ्क क्रमश. अध्याय, खण्ड और मन्त्र के सूचक हैं ।

सामवेद की सूक्तियां*

●

१. हमे ब्रह्मत्वभाव प्राप्त हो, हमे प्रिय एवं सत्यवाणी प्राप्त हो ।

२ कर्म से ही इन्द्र का गौरव बढा है ।

३. सदाचारी विद्वानो से द्वेष करने वालो को त्याग दो ।

४ जो साधक अहंकारपूर्वक अभिषव (अनुष्ठान) करता है, उसे त्याग दो ।

५ हे भगवन् ! जैसा तू है, ऐसा अन्य कोई नही है ।

---

* सामवेद सहिता, भट्टारक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा संपादित औंध से (वि० स० १९९६) प्रकाशित ।

—सामवेद संहिता, सायणाचार्यकृतभाष्य, रामचंद्र शर्मा द्वारा (ई० सं० १९२५) सनातनधर्म प्रेस मुरादाबाद से प्रकाशित ।

नोट—सामवेद के अन्तर्गत समस्त टिप्पण सायणाचार्य कृत भाष्य के है ।

६. यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।

—३।५।२

७. इन्द्रो मुनीनां सखा ।

—३।५।३

८. अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्द्धि चक्षुः ।[1]

—३।६।७

९ देवस्य पश्य काव्यं[2] महित्वाद्या ममार स ह्यः समान[3] ।

—३।१०।३

१०. यदुदीरत आजयो[4] धृष्णवे धीयते धनम्[5] ।

—४।७।६

११. स्वर्गं अर्वन्तो जयत ।

—४।६।६

१२. अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य,
पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम !
यो मा ददाति[6] स इदेवमावद्[7],
अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

—६।१।६

१३. मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि[8] वोचम्[9] ।

—६।३।६

१४. यशो मा प्रतिमुच्यताम्,
यशसाऽस्याः[10] संसदोऽहं प्रवदिता[11] स्याम् ।

—६।३।१०

---

१. चक्षु.—तेजश्च । २ सामर्थ्यम् । ३. समान—सम्यग् जीवति, पुनर्जन्मान्तरे प्रादुर्भवतीत्यर्थ. । ४. संग्रामाः । ५. जयतो धनं भवतीत्यर्थः । ६. अतिथ्यादिभ्यो ददाति । ७ अवति सर्वान् प्राणिनो रक्षति । ८, परिवर्जनी-

६. हे इन्द्र ! हम जिससे भयभीत हो, तुम उससे हमें अभय करो ।

७. इन्द्र मुनियो (तत्त्वज्ञानियो) का सखा है ।

८. अन्धकार को दूर करो, तेज (प्रकाश) का प्रसार करो ।

९. आत्मदेवता (अथवा महाकाल) के महान् सामर्थ्य को देखिए कि जो आज जराजीर्ण होकर मरता है, वह कल ही फिर नये रूप मे जीवित हो जाता है, नया जन्म धारण कर लेता है ।

१०. संघर्षों के उपस्थित होने पर जो जीतता है, वही ऐश्वर्य पाता है ।

११. स्वर्ग पर विजय प्राप्त करो ।

१२. मैं अन्न देवता अन्य देवताओ तथा सत्यस्वरूप अमृत ब्रह्म से भी पूर्व जन्मा हूँ । जो मुझ अन्न को अतिथि आदि को देता है, वही सब प्राणियो की रक्षा करता है । जो लोभी दूसरो को नही खिलाता है, मैं अन्न देवता उस कृपण को स्वयं खा जाता हूँ, नष्ट कर देता हूँ ।

१३. मैं त्याज्य अर्थात् निन्द्य वचन नही बोलता ।

१४. मै कभी यश से हीन न होऊँ । इस मेरी सभा (समाज) का यश कभी नष्ट न हो । मैं सदा सर्वत्र स्पष्ट बोलने वाला बनूँ ।

यानि । ९. ब्रवीमि । १०. अस्या मम संसदः समूहस्य यशो न प्रमुच्यताम् । ११. सर्वत्र प्रवक्ता ।

१५. अप त्ये तायवो[1] यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः[2]।
सूराय[3] विश्वचक्षसे।

—६।५।७

१६. ऋतस्य जिह्वा पवते[4] मधु प्रियम्।

—उत्तरार्चिक १।५।१६।२*

१७. न हि त्वा शूर देवा न मर्तासो[5] दित्सन्तम्।
भीमं[6] न गां[7] वारयन्ते।

—२।२।६।३

१८. मा की ब्रह्मद्विषं वनः।

—२।२।७।२

१९. तरणिरित्[8] सिषासति[9] वाजं पुरन्ध्या[10] युजा[11]।

—४।४।१३।१

२०. न दुष्टुतिर् द्रविणोदेषु[12] शस्यते,
न स्रेधन्तं[13] रयिर्नशत्[14]।

—४।४।१३।२

२१ पवस्व विश्वचर्षणे![15] आ मही रोदसी[16] पृण,
उषाः[17] सूर्यो न रश्मिभिः।

—५।१।३।५

२२. विप्रो यज्ञस्य साधनः।

—१३।५।१५।२

२३. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः।
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः।

—२०।६।८।१

---

१. तायुरिति स्तेननाम (नि० ३,२४,७)। २. अक्तुभिः रात्रिभिः सह अपयन्ति अपगच्छन्ति....अक्तुरितिरात्रिनाम। ३. सूर्यस्य आगमनं दृष्ट्वेति शेषः। ४ पवते क्षरति। ५. मर्तासः मनुष्याः। ६. भयजनकं दृप्तं। ७. वृषभम्। ८. कर्मणि त्वरित एव। ९ सम्भजते। १०. महत्या धिया।

१५. विश्व के चक्षु:स्वरूप सर्वप्रकाशक सूर्य का आगमन देखकर तारागण रात्रि के साथ वैसे ही छुप जाते है, जैसे सूर्योदय होने पर चोर !

१६ सत्य (—भाषी) की जिह्वा से अतिमोहक मधुरस झरता है।

१७ हे वीर ! तुम्हे देवता या मनुष्य कोई भी दान देने से रोकने वाला नही है, जैसे कि दृप्त वृषभ को घास खाने से कोई भी नही रोक सकता।

१८. सदाचारी विद्वानो से द्वेष करने वालो का सग न करो।

१९ शीघ्रकर्मा बुद्धिमान् पुरुष अपनी तीक्ष्ण बुद्धि (अथवा कर्मशक्ति) की सहायता से ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

२०. धनदाताओ की निन्दा करना ठीक नही है। दानदाता की प्रशंसा न करने वाले को धन नही मिलता है।

२१. हे विश्वद्रष्टा ! अपने रस के प्रवाह से आकाश और पृथ्वी दोनो को भर दो, जैसे कि सूर्य अपनी प्रकाशमान रश्मियो (किरणो) से दिन को भर देता है।

२२. मेधावी विद्वान् ही कर्म का साधक होता है।

२३. अग्नि ज्योति है और ज्योति अग्नि है। इन्द्र ज्योति है, और ज्योति इन्द्र है। सूर्य ज्योति है, और ज्योति सूर्य है। अर्थात् शक्ति और शक्तिमान में अभेद है।

---

११. सहायभूतया। १२ धनदातृषु। १३. हिसन्त धनदातृविषयकस्तुत्यादिकर्माणि अकुर्वन्तम्। १४. रयिर्धनं न नशत्, न व्याप्नोति। १५. विश्वस्य द्रष्ट: ! १६. द्यावापृथिव्यो:। १७. अहानि उपलक्ष्यन्ते।

* उत्तरार्चिक के अंक क्रमश: अध्याय, खण्ड, सूक्त और मंत्र के सूचक हैं।

अथर्ववेद की सूक्तियां

●

१. सं श्रुतेन गमेमहि[1] मा श्रुतेन वि राधिषि[2] ।

—१।१।४*

२. यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिन बहु ।

—१।१०।३

३. स सं स्रवन्तु सिन्धवः, सं वाता· सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे, जुषन्तां सं स्राव्येण हविषा जुहोमि ॥

—१।१५।१

४. ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ।

—१।१९।४

---

*अङ्क क्रमशः काण्ड, सूक्त और मंत्र के सूचक हैं ।

१. संगच्छेमहि । २ः विराद्धो वियुक्तो मा भूवम् ।

अथर्ववेद की सूक्तियां

●

१. हम सब श्रुत (ज्ञान) से युक्त हो, श्रुत (ज्ञान) के साथ कभी हमारा वियोग न हो।

२. जिह्वा से असत्य वचन बोलना बहुत बड़ा पाप है।

३. नदिया मिल कर बहती है, वायु मिलकर बहते हैं, पक्षी भी मिलकर उड़ते हैं, इसी प्रकार श्रेष्ठ जन भी कर्मक्षेत्र में मिल जुल कर काम करते हैं। मैं संगठन की दृष्टि से ही यह स्नेहद्रवित अनुष्ठान कर रहा हूँ।

४. मेरा अन्दर का कवच ब्रह्म (-ज्ञान) है।

---

* अथर्ववेद सहिता, भट्टारक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा संपादित, औंध से (वि० सं० १९९९ मे) प्रकाशित।

—अथर्ववेद संहिता सायणभाष्यसहित, पं० रामचन्द्र शर्मा द्वारा सनातनधर्म यन्त्रालय मुरादाबाद से (वि० स० १९८६) मुद्रित।

नोट—अथर्ववेदान्तर्गत समस्त टिप्पण सायणचार्यकृत भाष्य के है।

५ मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्,
मा नोविदद् वृजिना द्वेष्या या ।

—१।२०।१

६ यदग्निरापो अदहत् ।

—१।२५।१

७. जिह्वाया अग्रे मधु मे, जिह्वामूले मधूलकम्[1] ।
ममेदह क्रतावसो[2], मम चित्तमुपायसि ॥

—१।३४।२

८ मधुमन्मे निक्रमणं[3], मधुमन्मे परायणम्[4] ।
वाचा वदामि मधुमद्, भूयास मधु संदृशः[5] ॥

—१।३४।३

९. मधोरस्मि मधुतरो [6]मदुघान् मधुमत्तरः ।

—१।३४।४

१०. स दिव्येन दीदिहि[7] रोचनेन
विश्वा आ भाहि[8] प्रदिशश्चतस्रः ।

—२।६।१

११. स्वे गये[9] जागृह्यप्रयुच्छन्[10] ।

—२।६।३

१२. मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।

—२।६।४

१३. अतिनिहो अतिसृधोऽत्यचित्तीरतिद्विषः ।

—२।६।५

---

१ मधुररसबहुलम् । २ क्रतौ कर्मणि शारीरे व्यापारे असः भव । ३. निकटगमनम् सनिहितार्थेषु प्रवर्तनं मधुमत् मधुयुक्तं, स्वस्य परेषां च प्रीतिकरं भवतु । ४. परागमन दूरगमनम् । ५. संद्रष्टुः सर्वस्य पुरुषस्य ।

५ पराजय, अपकीर्ति, कुटिल आचरण और द्वेष हमारे पास कभी न आएँ।

६. क्रोधरूप अग्नि जीवनरस को जला देती है।

७. मेरी जिह्वा के अग्रभाग मे मधुरता रहे, मूल मे भी मधुरता रहे। हे मधुरता ! तू मेरे कर्म और चित्त मे भी सदा बनी रह।

८. मेरा निकट और दूर—दोनो ही तरह का गमन मधुमय हो, अपने को और दूसरो को प्रसन्नता देने वाला हो। अपनी वाणी से जो कुछ बोलूँ, वह मधुरता से भरा हो। इस प्रकार सभी प्रवृत्तियाँ मधुमय होने के फलस्वरूप मैं सभी देखने वाले लोगो का मधु (प्रिय) होऊँ।

९. मैं मधु (शहद) से भी अधिक मधुर हूँ, मैं विश्व के मधुर से मधुर पदार्थों से भी अधिक मधुर हूँ।

१०. अपने दिव्य तेज से अच्छी तरह स्वय प्रकाशमान बनो और अपने इधर-उधर समग्र चारो दिशाओ को भी प्रकाशमान करो।

११ किसी भी प्रकार का प्रमाद (भूल) न करते हुए अपने घर मे सदा जागते रहो, सावधान रहो।

१२. हे अग्रणी ! मित्र के साथ सदा मित्र के समान उदारता का व्यवहार कर।

१३ कलह, हिंसा, पाप बुद्धि और द्वेष वृत्ति से अपने आपको सदा दूर रखिए।

---

६. मदुघात् मधुदुघात् ...मधुशब्दे धुलोपश्छान्दस । मधुस्राविण पदार्थ-विशेषात्। ७. संदीदिहि—सम्यग् दीव्य दीप्यस्व वा। ८. प्रकाशय। ९. स्वे आत्मीये गये, गृहनामैतद् गृहे। १०. अप्रमाद्यन्।

१४ शप्तारमेतु शपथः।

—२।७।५

१५. यश्चकार स निष्करत्।

—२।६।५

१६. श ते अग्निः सहाद्भिरस्तु।

—२।१०।२

१७. आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम।

—२।११।१

१८. त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने।

—२।१२।१

१९. यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः[1]।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥

—२।१५।१

२०. सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता[2]॥

—२।३०।२

२१. यदन्तर तद् बाह्यं, यद् बाह्यं तदन्तरम्।

—२।३०।४

२२. विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः।

—२।३४।४

२३. भगस्य नावमारोह पूर्णामनुपदस्वतीम्[3]।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः॥

—२।३६।५

---

१. विनश्यत । २. कर्मनामैतत् । ३. क्षयरहिताम् ।

१४ शाप (आक्रोश-गाली), शाप देने वाले के पास ही वापस लौट जाता है।

१५ जो सदा कार्य करता रहता है, वही अभ्यासी उस कार्य की निष्कृति (पूर्णता-सम्पन्नता) करने की योग्यता प्राप्त करता है।

१६. तेरे लिए जल (शान्ति एव क्षमा) के साथ अग्नि (तेजस्विता) कल्याणकारी हो।

१७ अपने बराबर वालो से आगे बढ, और परम कल्याण प्राप्त कर।

१८. मेरे सन्तप्त होने पर मेरे अन्य साथी भी सतप्त हो, अर्थात् हम सब परस्पर सहानुभूति रखने वाले हो।

१९ जिस प्रकार आकाश और पृथ्वी कभी नही डरते, इसीलिए कभी नष्ट भी नही होते। इसी प्रकार हे मेरे प्राण! तू भी कभी किसी से मत डर!

२० हे परस्पर प्रेम करनेवाले स्त्री पुरुषो! तुम दोनो मिलकर चलो, मिलकर आगे बढो, मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करो। तुम दोनो के चित्त परस्पर मिले रहे, और तुम्हारे सभी कर्म परस्पर मिलजुलकर होते रहे।

२१. जो तुम्हारे अन्दर मे हो वही बाहर मे हो, और जो बाहर मे हो वही तुम्हारे अन्दर मे हो अर्थात् तुम सदा निश्छल एवं निष्कपट होकर रहो।

२२ विश्व के विभिन्न रूप—आकृति, जाति एव आचार व्यवहार-वाले प्राणी बाहर मे अनेक रूप होते हुए भी मूल मे एक रूप है।

२३. यह गृहस्थाश्रम सब प्रकार से परिपूर्ण और कभी ध्वस्त न होने वाली ऐश्वर्य की नौका है। हे गृहपत्नी! तू उसपर चढ और अपने प्रिय पति को जीवनसघर्षो के समुद्र से पार कर।

२४ दूषयिष्यामि[1] काबवम्[2] ।

—३।६।५

२५. एकशतं विष्कन्धानि[3] विष्ठिता[4] पृथिवीमनु ।

—३।६।६

२६ [5]पयस्वन्मामकं वचः ।

—३।२४।१

२७ शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर !
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ।

—३।२४।५

२८. कामः समुद्रमाविवेश[6] ।

—३।२९।७

२९ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत[7] वत्सं जातमिवाघ्न्या[8] ॥

३।३०।१

३०. अनुव्रतः[9] पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः[10] ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्[11] ॥

—३।३०।२

३१. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्[12], मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः[13] सव्रता[14] भूत्वा, वाचं वदत भद्रया ॥

—३।३०।३

३२. येन देवा न वियन्ति[15] नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

—३।३०।४

---

१. नाशयिष्यामि । २. विघ्नविशेषम् । ३. विघ्ना । ४. विविधम् अवस्थितानि । ५. पयस्वत्—सारयुक्तं सर्वैरुपादेयं भवतु । ६. समुद्रवन्निरवधिकं रूपम् वा विवेश प्राप्तवान् । ७. आभिमुख्येन कामयध्वम् । ८. अघ्न्याः गोनामैतत्, अहन्तव्या गावः । ९ अनुकूलकर्मा भवतु । १०. समानमनस्का ।

२४ मैं अपने जीवनपथ की बडी से बडी विघ्नबाधाओं को परास्त कर दूंगा।

२५. पृथ्वी पर चारो ओर सैकडो विघ्न खडे हैं।

२६. मेरा वचन दूध जैसा मधुर, सारयुक्त एव सबके लिए उपादेय हो।

२७ हे मनुष्य ! तू सौ हाथो मे कमा और हजार हाथो से उसे समाज में फैलादे अर्थात् दान करदे। इस प्रकार तू अपने किये हुए तथा किये जाने वाले कार्य की अभिवृद्धि कर।

२८. काम समुद्र मे प्रविष्ट होता है—अर्थात् कामनाएँ समुद्र के समान निःसीम हैं, उनका कहीं अन्त नही है।

२९. आप सब परस्पर एक दूसरे के प्रति हृदय म शुभ सङ्कल्प रखे, द्वेष न करें। आप सब एक दूसरे को ऐसे प्रेम से चाहे जैसे कि गौ अपने नवजात (नये जन्मे हुए) बछडे पर प्रेम करती है।

३०. पुत्र अपने पिता के अनुकूल आचरण करे। माता पुत्र-पुत्रियो के साथ एक-से मन वाली हो। पत्नी पति के साथ मधुर और सुखदायिनी वाणी बोले।

३१ भाई-भाई आपस में द्वेष न करे, बहिन-बहिन आपस में द्वेष न करें। सब लोग समान गति और समान कर्मवाले होकर मिलजुलकर कार्य करें, और परस्पर कल्याणकारी शिष्ट भाषण करे।

३२ जिससे श्रेष्ठजन भिन्न मतिवाले नही होते है, और परस्पर द्वेष भी नही करते हैं, उस ऐकमत्योत्पादक सर्वोत्तम ब्रह्मज्ञान का उपदेश हम आप सब पुरुषो को करते हैं।

---

११. शन्तिवाम्-सुखयुक्ता वाचम् ।.. 'कशम्याम्' इति शम्शब्दात् ति प्रत्यय, ततो मत्वर्थीय । १२ द्विष्यात्। १३ सम्यञ्च. समञ्चना. समानगतय.। १४. समानकर्माण.। १५ वियन्ति विमति न प्राप्नुवन्ति।

३३. अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत ।

—३।३०।५

३४. समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे[1] सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित. ॥

—३।३०।६

३५. सायं प्रात. सौमनसो वो अस्तु ।

—३।३०।७

३६. व्यार्त्या पवमानो वि शक्र पापकृत्यया ।

—३।३१।२

३७. ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार ।

—४।१।३

३८ बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् ।

—४।१।५

३९. कविर्देवो न दभायत्[2] स्वधावान्[3] ।

—४।१।७

४०. मूर्णा मृगस्य दन्ता. ।

—४।३।६

४१. यत् संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः ।

—४।३।७

४२. अनड्वान् दाधार[4] पृथिवीम् ।

—४।११।१

---

१. एकस्मिन् बन्धने स्नेहपाशे । २. न हिनस्ति, सर्वम् अनुगृह्णातीत्यर्थः ।

३३. एक दूसरे के साथ प्रेमपूर्वक मधुर संभाषण करते हुए आगे बढे चलो।

३४. आप सब की प्रपा (जलपान करने का स्थान) एक हो, आप सब एक-साथ बैठकर भोजन करें। मैं आप सबको एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए नियुक्त करता हूँ। आप सब अग्नि (अपने अग्र लक्ष्य) की उपासना के लिए सब ओर से ऐसे ही एकजूट हो, जैसे कि चक्र के आरे चक्र की नाभि मे चारो ओर से जुडे होते हैं।

३५ सुबह और शाम अर्थात् सदाकाल आप सब प्रसन्नचित्त रहे।

३६. स्वच्छता का ध्यान रखनेवाला मनुष्य रोग आदि की पीडाओ से दूर रहता है। और मनोवल से समर्थ साधक पापो से दूर रहता है।

३७ ब्रह्म से ही ब्रह्म का प्रकाश होता है अर्थात् ज्ञान से ही ज्ञान का विस्तार होता है।

३८. ज्ञान का स्वामी दिव्य आत्मा ही विश्व का सम्राट् है।

३९. क्रान्तदर्शी श्रेष्ठ ज्ञानी ऐश्वर्य से समृद्ध होकर भी किसी को पीडा नही देते हैं, सबपर अनुग्रह ही करते है।

४०. हिंस्र व्याघ्र आदि के दाँत मूढ हो जाएँ, भक्षण करने मे असमर्थ हो जाएँ। अर्थात् अत्याचारी लोगो की सहारक शक्ति कुण्ठित हो जाए।

४१. जो स्वयं सयमित है, नियन्त्रित है, उसको व्यर्थ ही और अधिक नियन्त्रित नही करना चाहिए। परंतु जो अभी अनियन्त्रित है, उसी को नियन्त्रित करना चाहिए।

४२ वृषभ ही हल जोतना, भार ढोना आदि के रूप मे भूमि (जनता) को धारण करता है, पोषण करता है।

---

३. अन्नवान्। ४. कर्पण-भारवहनादिना,...धारयति पोषयति।

४३. उत देवा अवहित देवा उन्नयथा पुन. ।

—४।१३।१

४४. रोहान् रुरुहुर्मेध्यास ।

—४।१४।१

४५ वशी वशं नयासा एकज त्वम् ।

—४।३१।३

४६ मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देव ।

—४।३२।२

४७. आस्ते यम उपयाति देवान् ।

—४।३४।३

४८. ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि ।

—४।३५।७

४९. रणे रणे अनुमदन्ति विप्रा. ।

—५।२।४

५० मा त्वा दभन् दुरेवास कशोका ।

—५।२।४

५१. नि तद् दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे ।

—५।२।६

५२. तुरश्चिद् विश्वम् अर्णवत् तपस्वान् ।

—५।२।८

५३. ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु ।

—५।३।१

५४. ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु ।

—५।३।३

५५. अराते चित्त वीर्त्सन्त्याकूति पुरुषस्य च ।

—५।७।८

४३ हे दिव्य आत्माओ ! तुम अवन्तो को द्वारा उन्नत करो। अर्थात् गिरे हुओ को फिर ऊँचा उठाओ।

४४. पवित्र आचारवाले आत्मा ही उच्च स्थानो को प्राप्त होते हैं।

४५ सर्वप्रथम तू अपने आपको वश मे कर—अर्थात् सयमित कर, तभी तू दूसरो को वश मे कर सकेगा।

४६ उत्साह (अथवा तेज) ही इन्द्र है, उत्साह ही देव है।

४७. जो अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप यमो मे रहता है, वह देवत्व को प्राप्त होता है।

४८ मैं विश्व को जीतने वाले ब्रह्मौदन (ज्ञानरूपी अन्न) को पकाता हूँ अर्थात् उसे परिपक्व करता हूँ।

४९. ज्ञानी प्रत्येक युद्ध मे अर्थात् हर सघर्ष मे प्रसन्न रहते है।

५० मनुष्य, तेरे मन को दुष्टता एवं शोक के विचार न दबाएँ।

५१ जिस घर मे छोटे और बडे सब मिलकर रहते हैं, वह घर अपने बलपर सदा सुरक्षित रहता है।

५२. शीघ्रता से कार्य करने वाला तपस्वी अर्थात् परिश्रमी एवं स्फूर्तिमान् व्यक्ति विश्व को हिला देता है।

५३ हे देव, मेरा तेज संघर्षो मे सदा प्रकाशमान रहे।

५४ मेरा अन्तरिक्ष अर्थात् कार्यक्षेत्र विस्तृत परिवेशवाला हो।

५५. कृपणता मनुष्य के मन और संकल्प को मलिन कर देती है।

५६. न कामेन पुनर्मघो भवामि ।

—५।१।१२

५७. न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव ।

—५।१८।६

५८. तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥

—५।१९।८

५९. आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ।

—५।३०।७

६०. यथोत ममृपो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ।

—६।१८।२

६१. मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम् ।

—६।३२।३

६२. अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नाः ।

—६।४४।१

६३. परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि, न त्वा कामये ।

—६।४५।१

६४. अयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् ।

—६।६३।२

६५. सं वः पृच्यन्तां तन्वः समनांसि समुव्रता ।

—६।७४।१

६६ सं प्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ।

—६।७६।१

६७. आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणी ।

—६।१०६।१

५६. केवल इच्छा करने भर से ही मैं पुन. ऐश्वर्यशाली नही हो सकता हूँ।

५७. ब्राह्मण (सदाचारी विद्वान्) अग्निस्वरूप है, ज्योतिर्मय है। जैसे अपने प्रिय शरीर को पीडा नही दी जाती है, वैसे विद्वान् को भी पीडा नही देनी चाहिए।

५८. जिस राष्ट्र मे ब्राह्मण (विद्वान्) सताये जाते हैं वह राष्ट्र विपत्तिग्रस्त होकर वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे टूटी हुई नौका जल मे डूबकर नष्ट हो जाती है।

५६. उन्नति और प्रगति प्रत्येक जीवात्मा का अयन है—लक्ष्य है।

६०. जिस प्रकार मरते हुए व्यक्ति का मन मरा हुआ-सा हो जाता है, उसी प्रकार ईर्ष्या करने वाले का मन भी मरा हुआ-सा रहता है।

६१. परस्पर एक दूसरे से झगड़ने वाले मृत्यु को प्राप्त होते है।

६२. वृक्ष खडे-खडे सोते हैं।

६३. हे पापी विचार! दूर हट! मुझे तू कैसी बुरी-बुरी बाते कहता है? जा, दूर चला जा, मैं तुझे नही चाहता।

६४. लोह—जैसे मजबूत बन्धनो के पाश को भी तोड़ डालो।

६५. तुम्हारे शरीर मिले रहे, तुम्हारे मन मिले रहे, तुम्हारे कर्म भी परस्पर मिलजुलकर होते रहे।

६६. हृदय की वेदी पर से हजारो ज्वालाओ से प्रदीप्त अग्नि (उत्साह एव तेज) का उदय हो।

६७. तेरे आगे और पीछे फूलो से लदी दूर्वा (प्रगति की आशा एव आत्मश्रद्धा) खिली रहे।

६८ द्रुपदादिव[1] मुमुचान., स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं, विश्वे शुम्भन्तु[2] मैनसः ॥

—६।११५।३

६९. अनृणा अस्मिन्ननृणा. परस्मिन् ।

—६।११७।३

७०. देवाः पितरः पितरो देवाः ।

—६।१२३।३

७१. यो अस्मि सो अस्मि ।

—६।१२३।३

७२ चारु वदानि पितरः संगतेषु ।

—७।१२।१

७३. विद्म ते सभे नाम नरिष्टा[3] नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः[4] ॥

—७।१२।२

७४. यद् वोमन परागतं[5] यद् बद्धमिह[6] वेह वा ।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमता[7] मन. ॥

—७।१२।४

७५. दमे दमे सप्त रत्ना दधानो ।

—७।२६।१

७६. यो देवकामो न धनं रुणद्धि,
समित् तं रायः सृजति स्वधाभि. ।

—७।५०।६

७७. कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।

—७।५०।८

---

१ काष्ठमयाद, पादवन्धनादिव । २. शुद्ध कुर्वन्तु । ३. अहिंसिता परैरनभिभाव्या । ४. अनुकूलवाक्या. । ५. अस्मदनभिमुखम् । ६. अस्मद्-

६८. जिस प्रकार मनुष्य काठ के पादबन्धन से मुक्त होता है, स्नान के द्वारा मल से मुक्त होता है, और जैसे कि छनने से घी पवित्र होता है, उसी प्रकार सभी दिव्य पुरुष मुझे भी पाप से शुद्ध करें, मुक्त करे।

६९. हम इस लोक मे भी ऋणरहित हो और परलोक मे भी ऋण-रहित हो।

७०. जो पालन करते है वे देव हैं, और जो देव है वे पालन करते है।

७१. मैं जो हूँ वही हूँ अर्थात् मैं जैसा अन्दर मे हूँ, वैसा ही बाहर मे हूँ। मुझ मे बनावट जैसा कुछ नही है।

७२ हे गुरुजनो ! मुझे आशीर्वाद दो कि मैं सभाओ मे सुन्दर एवं हितकर बोलूँ।

७३. हे सभा ! हम तेरा नाम जानते है, निश्चय ही तेरा नाम नरिष्टा है, तू किसी से भी हिंसित अर्थात् अभिभूत नही होती। जो भी तेरे सदस्य हो, वे हमारे लिए अनुकूल वचन बोलने वाले हो।

७४. हे सभासदो ! आपका मन मुझसे विमुख होकर कही अन्यत्र चला गया है, अथवा कही किसी अन्य विषय मे बद्ध होगया है। मैं (अध्यक्ष) आपके उस मन को अपनी ओर लौटाना चाहता हूँ, आपका मन मुझ मे ही रमता रहे अर्थात् मेरे अनुकूल ही विचार करे।

७५. जीवात्मा के प्रत्येक घर (शरीर) मे पाच ज्ञानेन्द्रिया मन तथा बुद्धि—ये सात रत्न हैं।

७६. जो मनुष्य अच्छे कार्य के लिए अपना धन समर्पण करता है, दान के सुप्रसंगो मे अपने पास रोक नही रखता है, उसी को अनेक धाराओ से विशेष धन प्राप्त होता है।

७७. कर्म अर्थात् पुरुषार्थ मेरे दायें हाथ मे हैं और विजय (सफलता) मेरे बाएँ हाथ मे।

व्यतिरिक्तसर्वविषयेषु ससक्तम्। ७. मदनुकूलार्थचिन्तापरं भवतु।

७८. सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।

—७।५२।२

७९ पूर्वापरं चरतो माययैतौ
शिशू क्रीडन्तौ परियातोऽर्णवम् ।

—७।८१।१

८०. अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् ।
ओजो[1] दास्यस्य दम्भय[2] ।

—७।९०।१

८१. स्वां योनिं[3] गच्छ !

—७।९७।५

८२. गातु[4] वित्त्वा[5] गातुमित ।

—७।९७।७

८३. यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।

—७।१०१।१

८४. घृतेन कलिं शिक्षामि ।

—७।१०९।१

८५. प्रपतेतः पापि लक्ष्मि ! [6]नश्येतः ।

—७।११५।१

८६. एकशत लक्ष्म्यो मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः ।

—७।११५।३

८७. रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशन्[7] ।

—७।११५।४

८८. उत्क्रामातः [8]पुरुष माव पत्था[9] ।

—८।१।४

---

१. बलम् । २. नाशय । ३. योनिः कारणम् सर्वजगत्कारणभूता पारमेश्वरी शक्तिः, तां प्राप्नुहि । ४. मार्गम् । ५. विदित्वा ज्ञात्वा । ६. नश्य–अदृष्टा

७८ हम मनन चिन्तन के द्वारा उत्तम ज्ञान प्राप्त करें, ज्ञान प्राप्त कर एक मन से रहे। सदैव दिव्य मन से युक्त रहे, वियुक्त न हो।

७९. ये दोनो बालक—अर्थात् सूर्य और चन्द्र अपनी दिव्य शक्ति से खेलते हुए आगे-पीछे चलते हैं और भ्रमण करते हुए समुद्र तक पहुँचते है।

८०. लताओ की पुरानी सूखी लकड़ी के समान दुष्ट हिंसको के बल को काटो और दबा दो।

८१. अपने मूल ईश्वरीय स्वरूप को प्राप्त कर।

८२. पहले मार्ग को जानिए, फिर उस पर चलिए।

८३. मैं स्वप्न मे जो भोगोपभोग करता हूँ, जो दृश्य देखता हूँ, वह सब असत् है, क्योकि सवेरा होने पर वह कुछ भी तो दिखाई नही देता।

८४. मै आपस के कलह को स्नेह से शान्त करता हूँ।

८५. हे लक्ष्मी! यदि तुझसे पाप होता हो तो तू मेरे यहाँ से दूर चली जा, नष्ट हो जा।

८६. मनुष्य के शरीर के साथ जन्मकाल से ही एक सौ एक लक्ष्मी (शक्तियाँ) उत्पन्न होती हैं।

८७. जो लक्ष्मी अर्थात् शक्ति पवित्र हैं, पुण्यकारिणी है, वे मेरे यहाँ आनन्द से रहे, और जो पापी है, पापकारिणी हैं, वे सब नष्ट हो जाएँ।

८८. हे मनुष्य! तू ऊपर चढ, नीचे न गिर।

नष्टा भव। ७. नश्यन्तु इत्यर्थ.। ८. उत्क्रमणं कुरु। ९. अवपतन माकार्षीः।

८९ उद्यानं[1] ते पुरुष नावयानम्[2]।

—८।१।६

९०. मा ते मनस्तत्र गान्[3] मा तिरोभून्[4]।

—८।१।७

९१. मा जीवेभ्य प्रमद.।

—८।१।७

९२. मानु गा. पितॄन्।

—८।१।७

९३. मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्[5]।

—८।१।८

९४. आ रोह तमसो ज्योति.[6]।

—८।१।८

९५. तम[7] एतत् पुरुष मा प्रपत्था,
भय परस्तादभयं ते अर्वाक्।

—८।१।१०

९६. बोधश्च[8] त्वा प्रतीबोध[9]श्च रक्षताम्।
अस्वप्नश्चत्वाऽनवद्राणश्च[10] रक्षताम्॥

—८।१।१३

९७ व्यवात्[11]ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत्।

—८।१।२१

९८. रजस्तमो मोप गा मा प्रमेष्ठा.[12]।

—८।२।१

---

१ उद्गमनमेव। २. अवाग्गमनम्। ३ मा गात् गतं मा भूत्। ४. अन्तर्हितं विलीनमपि मा भूत्। ५. दूरदेशम्। ६. ज्योतिः प्रकाश., प्रकाश ज्ञानम् आरोह अधिष्ठित। ७ तम. अन्धकारम् अज्ञानम्। ८ बोधः सर्वदा

८९. हे पुरुष ! तेरी उन्नति की ओर गति हो, अवनति की ओर नही।

९०. हे पुरुष ! तेरा मन कुमार्ग मे न जाये और यदि कभी चला भी जाये तो वहाँ लीन न हो, अधिक काल तक स्थिर न रहे।

९१. अन्य प्राणियो के प्रति प्रमाद न कर, अर्थात् उनके प्रति जो तेरा कर्तव्य है, उस ओर लापरवाह मत बन।

९२ तू अपने मृत पितरो के मार्ग का अनुसरण मत कर अर्थात् पुरानी मृत-परम्पराओ को छोडकर नवीन उपयोगी परम्पराओ का निर्माण कर।

९३ गुजरे हुओ का शोक न कर, क्योंकि ये शोक मनुष्य को बहुत दूर पतन की ओर ले जाते है।

९४. अन्धकार (अज्ञान) से प्रकाश (ज्ञान) की ओर आरोहण कर।

९५ हे पुरुष ! तू इस अज्ञान के अन्धकार मे न जा। वहा तेरे लिए भय ही भय है, और यहा ज्ञान के प्रकाश मे अभय है।

९६. हे मनुष्य, बोध (ज्ञान) और प्रतीबोध (विज्ञान) तेरी रक्षा करे। अस्वप्न (स्फूर्ति, जागरण) और अनवद्राण—(कर्तव्य से न भागना, कर्तव्य परायणता, अप्रमत्तता) तेरी रक्षा करे।

९७. तेरे पास से अन्धकार चला गया है, बहुत दूर चला गया है। अब तेरा प्रकाश सब ओर फैल रहा है।

९८. तू रजोगुण (भोगासक्ति) तथा तमोगुण (अज्ञान एव जड़ता) के निकट मत जा। तू इस प्रकार भोगासक्त होकर विनाश को मत प्राप्त हो।

प्रतिबुध्यमान.। ९. प्रतीबोध. प्रतिवस्तु प्रतिक्षण वा बुध्यमान। १०. निद्रा-रहित.। ११ व्यगान् व्यौच्छत् तमोविवासनमभूत्। १२ हिंसा च मा प्राप्नुहि।

९९. न मरिष्यसि न मरिष्यसि, मा विभेः ।

—८।२।२४

१००. न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ।

—८।२।२४

१०१ दुष्कृते मा सुग[1] भूद् ।

—८।४।७

१०२ [2]असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ।

—८।४।८

१०३. उलूकयातुं शुशुलूकयातुं,
जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं,
दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ।

—८।४।२२

१०४. व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ।

—८।७।२०

१०५. कामो जज्ञे प्रथमः ।

—९।२।१९

१०६ युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणायाः ।

—९।९।९

१०७. कविर्यः पुत्र स ईमा चिकेत,
यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ।

—९।९।१५

१०८. ऋतं पिपर्ति अनृतं निपाति ।

—९।१०।२३

---

१. सुगमनं जीवद्गमनं सुखं वा मा भूत् । २. शून्यो भवतु ।

९९ हे आत्मन् ! तू कभी मरेगा नही, मरेगा नही, अत मृत्यु से मत डर।

१००. 'जो अधम-तमोगुण को नही अपनाते, वे कभी नष्ट नही होते।

१०१. दुराचारी लोग इधर-उधर सुख से नही घूम सकते।

१०२. हे इन्द्र ! असत्य भाषण करने वाला असत्य (लुप्त) ही हो जाता है।

१०३. उल्लू के समान अज्ञानी मूढ, भेडिये के समान क्रोधी, कुत्ते के समान झगड़ालू, चक्रवाक के समान कामी, गीध के समान लोभी और गरुड़ के समान घमंडी लोगो का सग छोड़ो ! ये राक्षसवृत्ति के लोग वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे पत्थरो की मार से पक्षी !

१०४. चावल और जौ स्वर्ग के पुत्र हैं, अमर होने के औषध हैं।

१०५. मनुष्य के मन मे सबसे पहले संकल्प ही प्रकट होता है।

१०६. माता को (घर मे) दान दक्षिणा (वितरण) की धुरा मे नियुक्त किया गया है।

१०७. जो क्रान्तदर्शी पुत्र है, वही यह देश-काल का ज्ञान अथवा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता है। और जो इस ज्ञान को यथावत् जान लेता है, वह पिता का भी पिता हो जाता है। अर्थात् उसकी योग्यता बहुत बड़ी हो जाती है।

१०८. ज्ञानयोगी साधक सत्य की पूर्णता करता है, और असत्य को नीचे गिराता है।

१०९. न द्विषन्नश्नीयात्,
न द्विषतोऽन्नमश्नीयात् ।

—९।६।७।२४

११०. सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ।

—९।६।८।२५

१११ कीर्ति च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति
य पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।

—९।६।८।३५

११२ अशितावत्यतिथावश्नीयात् ।

—९।६।८।३८

११३ ब्रह्म संवत्सरं ममे ।

—१०।२।२१

११४. न वै त चक्षुर्जहाति न प्राणो जरस. पुरा ।
पुर यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥

—१०।२।३०

११५. अष्टचक्रा नवद्वारा, देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोश., स्वर्गो ज्योतिषावृत. ॥

—१०।२।३१

११६. ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।

—१०।७।१७

१०९. जिससे स्वयं द्वेष करता हो, अथवा जो स्वयं से द्वेष करता हो, उसके यहां भोजन नही करना चाहिए।

११०. अतिथि जिसका अन्न खाता है, उसके सब पाप जल जाते हैं।

१११. वह व्यक्ति घर के कीर्ति और यश को खा जाता है, जो अतिथि से पहले भोजन खाता है।

११२. अतिथि के भोजन कर लेने के पश्चात् ही गृहस्थ को स्वय भोजन करना चाहिए, पहले नही।

११३ ब्रह्म (ज्ञान) ही काल को मापता है।

११४ जिस ब्रह्मपुरी मे शयन के कारण (पुरि शेते पुरुष) पुरुष कहलाता है, जो व्यक्ति उस ब्रह्मपुरी को, अर्थात् मानवशरीर को, उसके महत्त्व को जानता है, उसको समय से पहले प्राण (जीवन शक्ति) और चक्षु (दर्शन शक्ति) नही छोडते है।

११५. आठ चक्र और नौ द्वारो वाला यह मानवशरीर देवो की अयोध्या नगरी है। इसमे स्वर्ण का दिव्यकोष है, और प्रकाश से परिपूर्ण स्वर्ग है।

[दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक मूत्रद्वार और एक गुदद्वार—ये नौ द्वार हैं। आठ चक्र इस प्रकार हैं—

१ मूलाधार चक्र—गुदा के पास पृष्ठवंश–मेरुदण्ड की समाप्ति के स्थान मे। २ स्वाधिष्ठान चक्र—इससे कुछ ऊपर। ३ मणिपूरक चक्र—नाभिस्थान मे। ४ अनाहत चक्र—हृदयस्थान मे। ५ विशुद्धि चक्र—कठस्थान मे। ६ ललना चक्र—जिह्वामूल मे। ७ आज्ञाचक्र—दोनो भौहो के बीच मे। ८ सहस्रारचक्र—मस्तिष्क मे।]

११६. जो मनुष्य मे ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, वे ही वस्तुतः परमेष्ठी (ब्रह्म) को जानते है।

११७ पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः।

—१०।८।१४

११८. सत्येनोर्ध्वस्तपति, ब्रह्मणाऽर्वाङ् वि पश्यति।

—१०।८।१९

११९. सनातनमेनमाहुरुताऽद्य स्यात् पुनर्णवः।

—१०।८।२३

१२०. बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।

—१०।८।२५

१२१. पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।

—१०।८।२९

१२२ देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

—१०।८।३२

१२३ सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्।

—१०।८।३७

१२४ तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो.
आत्मानं धीरमजरं युवानम्।

—१०।८।४४

१२५ यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते।

—१०।९।४

१२६. न ते दूरं, न परिष्ठाऽ[1]स्ति ते।

—११।२।२५

१२७ ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार,[2] ननु तिर्यङ् निपद्यते।

—११।४।२५

---

१. परिष्ठा—परिहृत्य स्थापिता। २. तद्रक्षणार्थं निद्रारहितो वर्तस्व।

११७ सर्वसाधारण लोग आँख से देखते है, मन (मनन-चिन्तन) से नही देखते ।

११८. सत्य से मनुष्य सब के ऊपर तपता है, ज्ञान से मनुष्य नीचे देखता है, अर्थात् नम्र होकर चलता है ।

११९. इस आत्मा को सनातन कहा है । यह मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म लेकर फिर नवीन हो जाता है ।

१२०. यह आत्मा बाल से भी अधिक सूक्ष्म है, इसीलिए यह विश्व मे एक अर्थात् प्रमुख होते हुए भी नही-सा दिखता है ।

१२१. पूर्ण से ही पूर्ण उदञ्चित होता है, पूर्ण ही पूर्ण से सिञ्चित होता है। अर्थात् पूर्ण—योग्य व्यक्ति के द्वारा ही कर्म की पूर्णता सम्पादित होती है ।

१२२ आत्मदेव के दिव्य कर्तृत्व—कृतित्व को देखो, जो न कभी मरता है और न कभी जीर्ण होता है ।

१२३ जो सूत्र के भी सूत्र को जानता है, अर्थात् बाह्य प्रपच के मूल सूत्रस्वरूप आत्म तत्व को पहचानता है, वही महद् ब्रह्म को जान सकता है ।

१२४. जो धीर, अजर अमर, सदाकाल तरुण रहने वाले आत्मा को जानता है, वह कभी मृत्यु से नही डरता ।

१२५ जो सैकड़ो लोगो को अन्न-भोजन देने वाली (शतौदना) गौ का पालन पोषण करता है, वह अपने संकल्पो को पूर्ण करता है ।

१२६ मानव ! तेरे से कुछ भी दूर नही है, विश्व मे तेरे से अलग छुपाकर रखने जैसी कोई भी दुष्प्राप्य चीज नही है ।

१२७ तू उठ कर खड़ा हो और सोने वालो के बीच उनकी रक्षा के लिए सतत जागता रह, क्योकि सोने वाला प्राणी तिरछा होकर लुढक जाता है ।

१२८ आचार्य उपनयमानो[1] ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त.[2] ।

—११।५।३

१२९. श्रमेण[3] लोकास्तपसा पिपर्ति ।

—११।५।४

१३०. देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ।

—११।५।५

१३१. ब्रह्मचर्येण[4] तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण[5] ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

—११।५।१७

१३२. ब्रह्मचर्येण[6] तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत[7] ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य. स्वराभरत्[8] ॥

— ११।५।१९

१३३. नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवता श्रिता. ।

—११।७।४

१३४. ऋतं[9] सत्य तपो राष्ट्रं श्रमो[10] धर्मश्च कर्म च ।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं[11] बले ॥

—११।७।१७

---

१. स्वसमीपम् उपगमयन् । २. अन्त विद्याशरीरस्य मध्ये गर्भं कृणुते करोति । ३. इन्द्रियनिग्रहोद्भूतखेदेन । ४ ब्रह्म वेद तदध्ययनार्थम् आचर्यम्—आचरणीयम् समिदाधानभैक्ष्यचर्योर्ध्वरेतस्कत्वादिक ब्रह्मचारिभिरनुष्ठीयमानं कर्म ब्रह्मचर्यम् ।. यस्य राज्ञो जनपदे ब्रह्मचर्येण युक्ता पुरुषास्तपश्चरन्ति, तदीयं र मभिवर्धत इत्यर्थ. । ५ नियमेन... ब्रह्मचर्यनियमस्थमेव आचार्यं

१२८ आचार्य ब्रह्मचारी बालक को उपनयन अर्थात् अपने समीप लाकर अपने विद्याशरीर के मध्य गर्भरूप मे स्थापित करता है।

१२९. ब्रह्मचारी अपने श्रम एव तप से लोगो की अथवा विश्व की रक्षा करता है।

१३० सब के सब देव अमृत के साथ उत्पन्न होते हैं। (देव का अर्थ दिव्य आत्मा है, और अमृत का अर्थ अमर आदर्श है, अर्थात् कभी क्षीण न होने वाले दिव्य आचार विचार।)

१३१ ब्रह्मचर्य (कर्तव्य) और तप (कर्तव्य पूर्ति के लिए किया जाने वाला श्रम) के द्वारा ही राजा अपने राष्ट्र का अच्छी तरह पालन करता है। आचार्य भी अपने ब्रह्मचर्य (नियमो) के द्वारा ही जिज्ञासु ब्रह्मचारी को अपना शिष्य बनाना चाहता है।

१३२. ब्रह्मचर्यरूप तप के प्रभाव से ही देवो ने मृत्यु को अपहृत किया है, वे अमर हुए है। इन्द्र ने भी ब्रह्मचर्य की साधना से ही देवताओ के लिए स्वर्ग का सम्पादन किया है।

१३३ जैसे रथचक्र अपनी मध्यस्थ नाभि को सब ओर से आवेष्टित किये रहता है, वैसे ही सब देवता उच्छिष्ट (यज्ञ से अवशिष्ट अन्न अथवा परब्रह्म) मे आश्रित है, अर्थात् उसे घेरे रहते हैं।

१३४ ऋत (मन का यथार्थ संकल्प), सत्य (वाणी से यथार्थ भाषण), तप, राष्ट्र, श्रम (शान्ति, वैराग्य), धर्म, कर्म (दानादि), भूत, भविष्य, वीर्य (सामर्थ्य), लक्ष्मी (सर्ववस्तु की सम्पत्ति), और बल (सब कार्य सम्पादन करने मे समर्थ शरीरगत शक्ति)—ये सब शक्तिशाली उच्छिष्ट मे रहते है।

शिष्या उपगच्छन्तीत्यर्थ.। ६ ब्रह्मचर्यरूपेण तपसा। ७. अपहृतवन्त.। ८ स्वर्गम् आभरत्—आहरत्। ९. मनसा यथार्थसकल्पनम्। १०. शान्ति. शब्दादिविषयोपभोगस्य उपरति। ११. सर्वकर्म्मनिवर्तनक्षम शरीरगत सामर्थ्यम्।

१३५ इन्द्रादिन्द्र.[1]।

—११।८।९

१३६. देवा. पुरुषमाविशन्।

—११।८।१३

१३७. अद एकेन[2] गच्छति, अद एकेन[3] गच्छति, इहैकेन[3] नि षेवते।

—११।८।३३

१३८. उत्तिष्ठत स नह्यध्वमुदारा केतुभिः सह।

—११।१०।१

१३९. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

—१२।१।१२

१४०. भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयाऽन्नेन मर्त्याः।

—१२।१।२२

१४१. मा नो द्विक्षत कश्चन।

—१२।१।२३

१४२. यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्र तदपि रोहतु।

—१२।१।३५

१४३. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

—१२।१।४५

१४४. क्षत्रेणात्मान परि धापयाथ.।

—१२।३।५१

१४५ हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति।

—१२।४।१३

---

१. इन्द्रात् इन्द्रत्वप्रापकात् कर्मण इन्द्रो जज्ञे। इन्द्रशब्द स्वकारणभूते कर्मणि उपचर्यते। २ अदः विप्रकृष्टं स्वर्गाख्य स्थान एकेन पुण्य कर्मणा गच्छति प्राप्नोति। ३ अदः विप्रकृष्टं नरकाख्य स्थानं एकेन पापकर्मणा।

१३५. इन्द्र (इन्द्रत्व प्राप्ति कराने वाले कर्म) से ही इन्द्र उत्पन्न होता है।

१३६. सभी देव (दिव्य शक्तियां) पुरुष मे निवास करते हैं।

१३७. एक से—पुण्य कर्म से स्वर्ग मे जाता है, एक से—पाप कर्म से नरक मे जाता है। और एक से—पुण्य पाप के मिश्रित कर्म से भूलोक मे सुख-दुःख भोगता है।

१३८. हे उदार वीर पुरुषो! तन कर खडे होओ और अपनी ध्वजाओ (आदर्शो) के साथ जीवनसघर्षो के लिए संनद्ध हो जाओ।

१३९. भूमि मेरी माता है और मैं उस का पुत्र हूँ।

१४०. भूमि पर के मरणधर्मा मानव अपने पुरुपार्थ से प्राप्त अन्न से ही जीवित रहते है।

१४१. संसार में मुझ से कोई भी द्वेप न करे।

१४२. हे भूमि! मैं तेरे जिस भाग को खो दूँ, वह शीघ्र ही भर जाए। अर्थात् मानवजीवन के अभावग्रस्त रिक्तस्थान तत्काल पूरित होते रहे।

१४३ अनेक प्रकार के धर्म वाले और अनेक प्रकार की भाषावाले मनुष्यो को एक घर की तरह समान भाव से पृथिवी अपने मे धारण करती है।

१४४. हे दम्पती! तुम क्षत्रशक्ति से—तेजस्वी कर्मयोग से अपने को आच्छादित करो!

१४५. जो पुरुष मांगने पर भी जिस वस्तु को नही देना चाहता, वह (न दी हुई वस्तु) अन्ततः उस पुरुष का सहार कर देती है।

---

४. इह अस्मिन् भूलोके एकेन पुण्यपापात्मकेन मिश्रितेन कर्मणा निषेवते नितरा सुखदु.खात्मकान् भोगान् सेवते।

१४६. सत्येनावृता, श्रिया प्रावृता, यशसा परीवृता ।

—१२।५।२

१४७. अमोहमस्मि सा त्वम् ।

—१४।२।७१

१४८. निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् ।

—१६।२।१

१४९ असतापं मे हृदयम् ।

—१६।३।६

१५० नाभिरहं रयीणां, नाभिः समानानां भूयासम् ।

—१६।४।१

१५१. योऽस्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु ।

—१६।७।५

१५२. जितमस्माकम् । —१६।८।१

१५३. ऋतमस्माकं, तेजोऽस्माकं, ब्रह्मास्माकं,
स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकम्

—१६।८।१

१५४. प्रियः प्रजानां भूयासम् ।

—१७।१।३

१५५ प्रियः समानानां भूयासम् ।

—१७।१।५

१५६. उदिह्युदिहि सूर्य[1] वर्चसा माभ्युदिहि ।
याश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं[2] कृधि ॥

—१७।१।७

---

१. सरति गच्छति संततम् इति वा, सुवति प्रेरयति स्वोदयेन सर्वं प्राणिजातं स्वस्वव्यापारे इति वा सूर्यः । २. तादृशी बुद्धिः स्वात्मशत्रुमित्रेषु

१४६. ब्राह्मण (विद्वान) की गौ (वाणी) सत्य से आवृत रहती है, ऐश्वर्य से पूर्ण रहती है और यश से सम्पन्न रहती है।

१४७. मैं (पति) विष्णु हूँ और तू (पत्नी) लक्ष्मी है।

१४८. सुन्दर, रमणीय (रोचक), शक्तिशाली और मधुर वाणी बोलो।

१४९. मेरा हृदय सदैव सन्तापरहित रहे।

१५०. मैं धन एव ऐश्वर्य का नाभि (केन्द्र) होऊँ, मैं अपने बराबर के साथी जनो का भी नाभि होऊँ अर्थात् जैसे कि रथचक्र की नाभि से चक्र के सब आरे जुडे रहते हैं, वैसे ही सब प्रकार के ऐश्वर्य और बराबर के साथी मुझ से सम्बन्धित रहे, मै सब का केन्द्र बनकर रहूँ।

१५१. जो हम से द्वेष करता है, वह अपनी आत्मा से ही द्वेष करता है।

१५२. ससार मे अपना जीता हुआ—अर्जित किया हुआ ही हमारा है।

१५३. सत्य हमारा है, तेज हमारा है, ब्रह्म हमारा है, स्वर्ग हमारा है और यज्ञ (सुकृत कर्म) भी हमारा है।

१५४. मैं जनता का प्रिय होऊँ।

१५५. मै अपने बराबर के साथियो का प्रिय होऊँ।

१५६. हे सब के प्रेरक सूर्य! उदय होइए, उदय होइए, प्रखर तेज के साथ मेरे लिए उदय होइए।
जिन प्राणियो को मैं प्रत्यक्ष मे देख पाता हूँ, और परोक्ष होने से जिन्हे नही भी देखपाता हूँ, उन सब के प्रति मुझे सुमति अर्थात् द्रोह-रहित बुद्धि प्रदान करो।

समदर्शिन एव जायते। तथाविधा दृष्टि परमेश्वरप्रीतये भवति।

१५७ असति सत् प्रतिष्ठितम् ।

—१७।१।१६

१५८. परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।

—१८।३।६२

१५९ [1]तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीः[2] ।

—१८।४।७

१६०. यतो भयमभयं तन्नो अस्तु ।

—१९।३।४

१६१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्योऽभवत् ।
मध्य तदस्य यद् वैश्य., पद्भ्या शूद्रो अजायत ॥

—१९।६।६

१६२. इदमुच्छ्रेयोऽवमानमागाम्[3] ।

—१९।१४।१

१६३. अभय मित्राद् अभयममित्राद्
अभय ज्ञाताद् अभय परो[4]य. ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मित्रं[5] भवन्तु ॥

—१९।१५।६

१६४. कालेन[7] सर्वा नन्दन्त्यागतेन[8] प्रजा इमाः ।

—१९।५३।७

---

१ तीर्थै.—तरन्ति दुष्कृतानि एभिरिति करणे क्थन् प्रत्यय. तरणसाधनैर्यज्ञादिभि । २. प्रवतः प्रकृष्टा महीः महती. आपदस्तरन्ति अतिक्रामन्ति । ३ अवस्यति परिसमाप्त भवति प्रयाण अत्र स्थाने

१५७. असत् में अर्थात् नामरूपादि विशेषताओ मे रहित अव्यक्त मे सत् अर्थात् नाम रूपादि विशेषताओ से सहित व्यक्त प्रतिष्ठित है। अर्थात् कारण मे कार्य अन्तर्निहित है।

१५८. मृत्यु हम से दूर भाग जाए, अमरता हमारे निकट आए।

१५९. तीर्थों के द्वारा, अर्थात् सत्कर्मो के द्वारा ही मानव अतिभयकर आपत्तियो से पार हो जाते हैं।

१६०. जिससे हमे भय प्राप्त होने की आशका हो, उससे भी हमे अभय प्राप्त हो।

१६१. ब्राह्मण जनहितरूप यज्ञ कर्म का अथवा समाज का मुख है, तो क्षत्रिय उस की बाहु है। वैश्य इस का मध्य अंग है, तो शूद्र उसका पैर है।

१६२. जहाँ चलना पूर्ण होता है, मैं उस परम निःश्रेयस् स्वरूप गन्तव्य स्थान पर पहुच गया हूँ।

१६३. हमे शत्रु एवं मित्र किसी से भी भय न हो। न परिचितो से भय हो, न अपरचितो से। न हमे रात्रि मे भय हो, और न दिन मे। किंबहुना, सब दिशाएँ मेरी मित्र हो, मित्र के समान सदैव हितकारिणी हो।

१६४. वसन्त आदि के रूप मे आये हुए काल से ही ये सब प्रजाएँ अपने-अपने कार्य की सिद्धि होने से सन्तुष्ट होती हैं।

इति अवसानम्।....आगाम् प्राप्तवानस्मि। ५. परः ज्ञाताद् अन्य. अपरिज्ञातः। ६. मित्रवन्मित्र सर्वदा हितकारिण्यो भवन्तु। ७. वसन्तादिरूपेण आगतेन। ८. नन्दन्ति—सन्तुष्यन्ति स्व-स्वकार्यसिद्धैः।

१६५. कालो ह सर्वस्येश्वर ।

—१६।५३।८

१६६. कालेनोदेति सूर्य· काले निविशते पुन ।

—१६।५४।१

१६७. काले लोका·[1] प्रतिष्ठिता· ।

—१६।५४।४

१६८. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रिय सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥

—१६।६२।१

१६९ बुध्येम शरद· शतम् ।
रोहेम[2] शरदः शतम् ॥

—१६।६७।३–४

१७०. संजीवा स्थ सं जीव्यास[3], सर्वमायुर्जीव्यासम् ।

—१६।६६।३

१७१. इन्द्र· कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम् ।

—२०।१२७।११

१७२ शयो हत इव ।

—२०।१३१।१६

१७३. व्याप पूरुष· ।

—२०।१३१।१७

---

१. लोकशब्दो जनवाची, भुवनवाची च । २. उत्तरोत्तरं प्ररूढा —प्रवृद्धा भवेम । ३. संजीव्या समीचीनजीवनवन्त:, जीवनकाले एक क्षणोपि वैयर्थ्येन न नीयते, किं तु परोपकारित्वेनेति आयुष· सम्यक्त्वम् ।

१६५. काल ही समग्र विश्व का ईश्वर है ।

१६६. काल से ही समय पर सूर्य उदित होता है, और काल से ही अस्त हो जाता है ।

१६७. काल मे ही समग्र लोक (प्राणी अथवा विश्व) प्रतिष्ठित है ।

१६८. हे देव ! मुझ को देवो मे प्रिय बनाइए और राजाओ मे प्रिय बनाइए । मुझे जो भी देखे, मैं उन सब का प्रिय रहूँ, शूद्रो और आर्यो मे भी मैं प्रिय रहूँ ।

१६९. हम सौ वर्ष तक सभी कार्यो का यथोचित रूप से ज्ञान करते रहे, समस्याओ का समाधान पाते रहें, हम सौ वर्ष तक उत्तरोत्तर अभिवृद्धि को प्राप्त होते रहे ।

१७०. पूर्ण आयु तक आप और हम सब परोपकार करते हुए सुन्दर जीवन यापन करे ।

१७१. इन्द्र ने अपने स्तोताओ को, अनुयायी कार्यकर्त्ताओ को उद्‌बोधन किया कि तुम खडे हो जाओ और जनसमाज मे सत्कर्म करते हुए विचरण करो ।

१७२. सोने वाला मरे हुए के समान है ।

१७३. पुरुष वह है, जो जनजीवन मे व्याप्त हो जाता है ।

ब्राह्मण साहित्य की सूक्तियां

१ अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरत ।

शतपथ ब्राह्मण—१।१।१।१*

२ सत्यमेव देवाः ।

—१।१।१।४

३. संग्रामो वै क्रूरम् । संग्रामे हि क्रूर क्रियते ।

—१।२।५।१९

४ सर्व वा इदमेति, प्रेति च ।

—१।४।१।३

५ मत्स्य एव मत्स्य गिलति ।

—१।८।१।३

६. ब्रह्मैव वसन्तः । क्षत्रं ग्रीष्मो । विडेव वर्षा. ।

—२।१।३।५

---

*अङ्क क्रमश. काण्ड, अध्याय, ब्राह्मण तथा कण्डिका के सूचक हैं ।

ब्राह्मण साहित्य की सूक्तियां

•

१. वह पुरुष अपवित्र है—जो झूठ बोलता है, झूठ बोलने से मन भीतर मे गन्दा रहता है।

२. देव (महान् आत्माएं) मूर्तिमान सत्य है।

३. युद्ध क्रूर होता है। युद्ध मे क्रूर काम किए जाते है।

४. जो आता है, वह सब जाता भी है।

५. बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है।

६ ब्राह्मण वसन्त है, क्षत्रिय ग्रीष्म है और वैश्य वर्षा (ऋतु) है।

---

* श्री शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण, अल्वर्ट वेवर द्वारा सपादित और बर्लिन मे (ई० स० १८४९) मुद्रित।

७ न श्व. श्वमुपासीत । को हि मनुष्यस्य श्वो वेद ।

—श० ब्रा० २।१।३।६

८. सत्यमेव ब्रह्म ।

—२।१।४।१०

९. अद्धा हि तद् यद् भूतम्, अनद्धा हि तद् यद् भविष्यत् ।

—२।३।१।२५

१०. अद्धा हि तद् यदद्य । अनद्धा हि तद् यच्छ्वः ।

—२।३।१।२८

११. नैव देवा अतिक्रामन्ति ।

—२।४।१।६

१२ यो दीक्षते स देवतानामेको भवति ।

—३।१।१।८

१३ स्वया हि त्वचा समृद्धो भवति ।

—३।१।२।१६

१४. न वै देवा. स्वपन्ति ।

—३।२।१।२२

१५ नान्योऽन्य हिंस्याताम् ।

—३।४।१।२४

१६ तपो वाऽग्निस्तपो दीक्षा ।

—३।४।३।३

१७. तपसा वै लोक जयन्ति ।

—३।४।४।२७

१८. इमाँल्लोकाञ्छान्तो न हिनस्ति ।

—३।६।४।१३

१९ द्वितीयवान् हि वीर्यवान् ।

—३।७।३।८

७. 'कल कल' की उपासना मत करो, अर्थात् कल के भरोसे मत बैठे रहो। मनुष्य का कल कौन जानता है?

८. सत्य ही ब्रह्म है।

९. जो हो चुका है, वह निश्चित है। जो होगा, वह अनिश्चित है।

१०. 'आज' निश्चित है। जो 'कल' है, वह अनिश्चित है।

११. दिव्य आत्मा मर्यादा का अतिक्रमण नही करते है।

१२. जो किसी व्रत में दीक्षित होता है, वह देवताओ की गणना मे आ जाता है।

१३ हर व्यक्ति अपनी ही त्वचा (परिकर एव ऐश्वर्य) से समृद्ध होता है।

१४. देव सोते नही हैं—अर्थात् दिव्य आत्मा कभी प्रमत्त नही होते।

१५ परस्पर एक दूसरे को हिंसित अर्थात् पीड़ित नही करना चाहिए।

१६. तप एक अग्नि है, तप एक दीक्षा है।

१७. तप के द्वारा ही सच्ची विश्वविजय प्राप्त होती है।

१८. शान्त पुरुष किसी भी प्राणी को कष्ट नही देते हैं।

१९. जिसके सहयोगी हैं, साथी हैं, वस्तुत. वही शक्तिशाली है।

२०. विद्वांसो हि देवाः ।

—श० ब्रा० ३।७।३।१०

२१. पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः ।

—५।१।१।१

२२. सत्यं वै श्रीर्ज्योतिः ।

—५।१।५।२८

२३. यावज्जायां न विन्दते....असर्वो हि तावद् भवति ।

—५।२।१।१०

२४ न हि माता पुत्रं हिनस्ति, न पुत्रो मातरम् ।

—५।२।१।१८

२५ ये स्थवीयासोऽपरिभिन्नास्ते मैत्रा,
न वै मित्रं कचन हिनस्ति, न मित्रं कश्चन हिनस्ति ।

—५।३।२।७

२६ न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम् ।

—६।३।१।१४

२७. पुण्यकृतः स्वर्गलोकं यन्ति ।

—६।५।४।८

२८. क्रतुमयोऽयं पुरुषः ।

—१०।६।३।१

२९. स्वर्गो वै लोकोऽभयम् ।

—१२।८।१।५

३०. समानी बन्धुता ।

—१२।८।२।१६

३१. पाप्मा वै तमः । —१४।३।१।२८

३२. *असतो मा सद् गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमय । —१४।४।१।३०

---

*देखें ३२ से ३५ तक तुलना के लिए बृहदारण्यक उपनिषद्, अ० १ ब्रा० ३-४ ।

२०. विद्वान ही वस्तुतः देव हैं ।

२१. अतिअभिमान पतन का द्वार (मुख) है ।

२२. सत्य ही श्री (शोभा व लक्ष्मी) है, सत्य ही ज्योति (प्रकाश) है ।

२३ गृहस्थ पुरुष जब तक पत्नी से युक्त नही हो पाता, तब तक अपूर्ण रहता है ।

२४. माता पुत्र को कष्ट न दे, और पुत्र माता को कष्ट न दे ।

२५ जो महान् और अभिन्न होते हैं वे ही मित्र होते हैं और जो मित्र होता है वह किसी की हिंसा नही करता है । तथा मित्र की भी कोई हिंसा नही करता है ।

२६. अयुक्त (अस्थिर) मन से कुछ भी करना सभव नही है ।

२७. पुण्य कर्म (अच्छे कर्म) करने वाले स्वर्ग लोक को जाते हैं ।

२८ यह पुरुष क्रतुमय—अर्थात् कर्मरूप है ।

२९. अभय ही स्वर्ग लोक है ।

३० समानता ही बन्धुता है ।

३१. पाप ही अन्धकार है ।

३२. हे प्रभु ! मुझे असत् से सत् की ओर ले चल !
मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल !
मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चल !

३३ मृत्युर्वा असत्, सदमृतम् ।

—श० ब्रा० १४।४।१।३१

३४. मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम् ।

—१४।४।१।३२

३५. द्वितीयाद् वै भयं भवति ।

—१४।४।२।३

३६. ब्रह्म संधत्तम्... क्षत्रं संधत्तम् ।

—*तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।१

३७. मनः संधत्तम्....वाचः संधत्तम् ।

—१।१।१

३८. चक्षुर्वै सत्यम् ।

—१।१।४

३९. नास्य ब्राह्मणोऽनाश्वान् गृहे वसेत् ।

—१।१।४

४०. भद्रो भूत्वा सुवर्गं लोकमेति ।

—१।१।४

४१. तूष्णीमेव होतव्यम् ।

—१।१।६

४२. विश्वा आशा दीद्यानो विभाहि ।

—१।१।७

४३. न मांसमश्नीयात्, न स्त्रियमुपेयात् ।
यन्मांसमश्नीयात्, यत् स्त्रियमुपेयात्,
निर्वीर्यः स्यात्, नैनमग्निरुपेयात् ।

—१।१।९

* कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण । आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना द्वारा प्रकाशित (ई० स० १८९८) संस्करण ।

३३. असत्य मृत्यु है, और सत्य अमृत है।

३४. अन्धकार मृत्यु है और प्रकाश अमृत है।

३५ दूसरे से ही भय होता है।

३६ अपने मे ब्राह्मण (ज्ञानज्योति) का सन्धान (सम्पादन, अभिवर्धन) करो, अपने मे क्षत्रियत्व (कर्मज्योति) का सन्धान करो।

३७. अपने मे मन (मनन शक्ति) का सन्धान करो, अपने मे वाचा (वक्तृत्व शक्ति) का सन्धान करो।

३८. आँख ही सत्य है, अर्थात् सुनी सुनाई बातो की अपेक्षा स्वय का साक्षात्कृत अनुभव ही सत्य होता है।

३९. गृहस्थ के घर मे कोई भी विद्वान् अतिथि बिना भोजन किए (भूखा) न रहने पाए।

४० भद्र साधक ही स्वर्ग लोक का अधिकारी होता है।

४१ मौन भाव से चुपचाप होम करना चाहिए, साधना करनी चाहिए।

४२. तू स्वय प्रकाशमान होकर समग्र दिशाओ को अच्छी तरह प्रकाशमान कर।

४३. ब्रह्म भाव की उपासना करने वाले को न मांस खाना चाहिए, न स्त्रीसंसर्ग ही करना चाहिए।
जो मांस खाता है, स्त्रीससर्ग करता है, वह निर्वीर्य हो जाता है, उसको ब्रह्म तेज प्राप्त नही होता।

—कृ० तै० ब्रा० के समस्त टिप्पण सायणाचार्यविरचित भाष्य के है।
—अंक क्रमश काण्ड, प्रपाठक तथा अनुवाक् के सूचक है।

४४. घृतैर्बोधयताऽतिथिम् ।

—तै० ब्रा० १।२।१

४५. अनृतात् सत्यमुपैमि, मानुषाद् दैव्यमुपैमि ।

—१।२।१

४६. उभयोर्लोकयोर् ऋद्ध्वा अतिमृत्युतराम्यहम् ।

—१।२।१

४७. संसृष्टं[1] मनो अस्तु व ।

—१।२।१

४८. सं[2] या व. प्रियास्तनुव., सं प्रिया हृदयानि वः ।
आत्मा वो अस्तु स प्रियः ।

—१।२।१

४९. अजीजनन्नमृतं मर्त्यास ।

—१।२।१

५०. अहं त्वदस्मि मदसि त्वम् ।

—१।२।१

५१ श्रीरमृता सताम् ।

—१।२।१

५२ न मेद्यतो ऽ नुमेद्यति, न कृश्यतो ऽ नुकृश्यति ।

—१।२।६

५३. देवा वै[1] ब्रह्मणश्चान्नस्य च [4]शमलमपाघ्नन् ।

—१।३।२

५४. वाग् वै सरस्वती ।

—१।३।५

---

१. परस्पर अनुरक्तानि....कार्येष्वैकमत्यम् । २ ससृज्यन्ताम् एकस्मिन्नेव

४४. अतिथि को घृत से अर्थात् स्नेह-सिक्त मधुरवाणी से सम्बोधित करना चाहिए।

४५. मैं असत्य से सत्य को प्राप्त करता हूँ, मैं मनुष्य से देवत्व को प्राप्त करता हूँ।

४६. मैं लोक और पर लोक—दोनो मे समृद्ध होकर मृत्यु (विनाश) से पूर्ण-रूपेण पार हो रहा हूँ।

४७ तुम्हारे हृदय परस्पर एक दूसरे से अनुरक्त हो, अर्थात् प्राप्त कर्तव्यो मे एकमत हो।

४८ तुम्हारे प्रिय शरीर एक कार्य (लक्ष्य) मे प्रवृत्त हो। तुम्हारे हृदय एक कार्य मे प्रवृत्त हो। तुम्हारी आत्मा एक कार्य मे प्रवृत्त हो।

४९. मर्त्यो (मरणधर्मा मनुष्यो) ने ही अमृत का आविष्कार किया है।

५०. मैं तुझसे हूँ, तू मुझसे है।

५१. सन्मार्गवर्ती सत्पुरुषो की श्री अमृत (अजर अमर) रहती है।

५२. शरीर से सम्बन्धित होते हुए भी चैतन्य आत्मा न शरीर के स्थूल होने पर स्थूल होता है, और न कृश होने पर कृश।

५३. देव (दिव्य आत्मा) ही ब्रह्म (वेद, शास्त्र) और अन्न (भोगोपभोग) के मलिन अंश को दूर करते हैं।

५४. वाणी ही सरस्वती है।

कार्ये प्रवर्तन्ताम्। ३. ब्रह्मणो वेदस्य। ४. शमलं मलिनभागम्।

५५. नमस्कारोहि पितॄणाम्[1]।

—तै० आ० १।३।१०

५६. मनसो वाचं संतनु[2]।

—१।५।७

५७ सबलो अनपच्युतः[3]।

—१।५।६

५८. नाराजकस्य युद्धमस्ति[4]।

—१।५।६

५९. अशनया-पिपासे ह वा उग्रं वचः[5]।

—१।५।६

६०. बहुरूपा हि पशवः समृद्ध्यै।

—१।६।३

६१. बहु वै राजन्यो ऽनृतं करोति।

—१।७।२

६२. अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति।

—१।७।२

६३. ब्राह्मणो वै प्रजानामुपद्रष्टा[6]।

—२।२।१

६४. समुद्र इव हि कामः, नैव हि कामस्यान्तो ऽस्ति, न समुद्रस्य।

—२।२।५

६५. प्रजया हि मनुष्यः पूर्णः।

—३।३।१०

---

१. अत्यन्तं प्रिय इति शेष.। २. संयोजयेत्यर्थ.। ३ कदाचिदप्यपलायित.।

५५ पिता आदि गुरुजनो को नमस्कार बहुत अधिक प्रिय है।

५६. वाणी को मन के साथ जोड़ो।

५७. सच्चा बलवान (शक्तिशाली) वह है, जो कभी किसी से डर कर भागता नही है।

५८. राजा (नायक) के बिना सेना युद्ध नही कर सकती, भाग जाती है।

५९. भूखे और प्यासे लोगो की आर्त वाचा ही अधिक उग्र होती है, अतः दयालु-जन उसे सुन नही सकते हैं, अर्थात् उसकी उपेक्षा नही कर सकते है।

६०. अनेक प्रकार के पशु ही गृहस्थ की समृद्धि के हेतु होते हैं।

६१. राजा (राजनीतिक व्यक्ति) बहुत अधिक असत्य का आचरण करता है।

६२. झूठ बोलने पर वरुण पकड़ लेते हैं।

६३. ब्राह्मण (सदाचारी विद्वान) ही प्रजा (जनता) का पथप्रदर्शक उपदेष्टा है ।

६४. काम (इच्छा, तृष्णा) समुद्र के समान है।
जैसे कि समुद्र का अन्त नही है, वैसे ही काम का भी कोई अन्त (सीमा) नही है।

६५. गृहस्थ मनुष्य प्रजा (सतान) से ही पूर्ण होता है।

---

४ युयुत्सवः सर्वेऽपि राजानमन्तरेण पलायिष्यन्ते । ५. कृपालवः श्रोतुं न सहन्ते । ६. हिताहितस्य प्रजानामुपदेष्टा ।

६६. सत्यं म आत्मा[1]।

—तै० आ० ३।७।७

६७. श्रद्धा मे ऽक्षितिः[2]।

—३।७।७

६८. तपो मे प्रतिष्ठा[3]।

—३।७।७

६९ वृजिनमनृतं दुश्चरितम्। ऋजु कर्म सत्यं सुचरितम्।

—३।७।१०

७०. अनन्ता वै वेदाः।

—३।१०।११

७१ श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते, श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी।

—३।१२।३

७२. श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य।

—३।१२।३

७३. मनसो वशे सर्वमिदं बभूव।

—३।१२।३

७४. नावगतो[4] ऽपरुध्यते, नापरुद्धो ऽवगच्छति।

—*ताण्ड्य महाब्राह्मण २।१।४

७५. न श्रेयांसं पापीयान् अभ्यारोहति।

—२।१।४

७६. नरो वै देवानां ग्रामः[5]।

—६।९।२

---

१. स्वभावः। २. अक्षयाऽस्तु। ३. स्थैर्यहेतुरस्तु। ४. कर्तरि निष्ठायां अवगन्ता ज्ञाता। ५. ग्राम—इति निवासाश्रयः।

—सामवेदीय ताण्ड्यमहाब्राह्मण, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी से (वि० सं० १९९३) मुद्रित।

६६ सत्य मेरा आत्मा (सहज स्वभाव) है।

६७ मेरी श्रद्धा अक्षय हो ।

६८. तप मेरी प्रतिष्ठा है, मेरी स्थिरता का हेतु है ।

६९ असत्य कुटिलता से किया जाने वाला दुश्चरित पाप है। और सत्य सरलता से किया जाने वाला सुचरित पुण्य है।

७०. वेद (ज्ञान) अनन्त है।

७१ श्रद्धा से ही देव देवत्व प्राप्त करते हैं, श्रद्धा देवी ही विश्व की प्रतिष्ठा है—आधारशिला है।

७२ श्रद्धा देवी ही सत्यस्वरूप ब्रह्म मे सर्वप्रथम उत्पन्न हुई है।

७३. समग्र विश्व मन के वश मे है ।

७४. ज्ञानी पुरुष अज्ञान से आक्रान्त नही होता, और जो अज्ञान से आक्रान्त है वह सत्य को नही जान पाता ।

७५. पापात्मा श्रेष्ठजनो को अतिक्रान्त नही कर सकता।

७६. मनुष्य देवो का ग्राम है अर्थात् निवासस्थान है।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण के समस्त टिप्पण सायणाचार्यविरचित भाष्य के हैं।

* अक क्रमश. अध्याय, खण्ड एवं कण्डिका के सूचक हैं।

७७. यदि पुत्रो ऽशान्तं चरति पिता तच्छमयति ।

—ता० ब्रा० ७।६।४

७८ एतद् वाचश्छिद्रं यदनृतम् ।

—८।६।१३

७९. ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात् ।

—११।१।२

८०. हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्या प्रवसन्ति ।

—१७।१।२

८१. वाग् वै शवली[1] ।

—२१।३।१

८२. नानावीर्याण्यहानि करोति ।

—२१।६।७

८३. मनु[2] र्वै यत्किञ्चावदत् तद् भेषजम्[3] ।

—२३।१६।७

८४. परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः ।

—*गोपथ ब्राह्मण१।१।१

८५. यद् वा अहं किञ्चन मनसा ध्यास्यामि तथैव तद् भविष्यति

—१।१।६

८६. श्रेष्ठो ह वेदस्तपसो ऽधिजातः ।

—१।१।६

८७. यजमाना रजसाऽपध्वस्यति, श्रुतिश्चापध्वस्ता तिष्ठति ।

—१।१।२८

---

१. शवली—कामधेनुः । २. रागद्वेषादिशोकापनोदकस्य मनोः परानुग्रहार्थम् । ३. भेषजं—हितम् । * अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण,

७७ यदि पुत्र गलत राह पर चलता हो तो पिता का कर्तव्य है कि उसे सही राह पर लाए।

७८ असत्य, वाणी का छिद्र है।

७९. ब्रह्म क्षत्र से पहले है, अर्थात् कर्म से पूर्व ज्ञान का होना आवश्यक है।

८०. जो निषिद्ध कर्म का आचरण करते हैं, वे हीन से और अधिक हीन होते जाते हैं।

८१. वाणी कामधेनु है।

८२. सत्पुरुष अपने जीवन के प्रत्येक दिन को विविध सत्कर्मों से सफल बनाते रहते हैं।

८३. वीतराग मनु ने जो कुछ कहा है, वह एक हितकारी औषध के तुल्य है।

८४. देवता (विद्वान लोग) परोक्ष से प्रेम करते है और प्रत्यक्ष से द्वेष रखते हैं। अर्थात् क्षणभंगुर वर्तमान को छोड़कर भविष्य की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

८५. मैं अपने मन से जैसा भी विचारूंगा, वैसा ही होगा।

८६. श्रेष्ठ ज्ञान तप के द्वारा ही प्रकट होता है।

८७. यजमान (साधक) राग से पतित हो जाते हैं और उनकी श्रुति (शास्त्र-ज्ञान) भी नष्ट हो जाती है।

पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी द्वारा प्रयाग (ई० १९२४) मे मुद्रित।
—अंक क्रमशः भाग, प्रपाठक तथा कण्डिका के सूचक हैं।

८८. धर्मो हैन गुप्तो गोपाय ।

—गो० ब्रा० १।२।४

८९. किं पुण्यमिति ? ब्रह्मचर्यमिति ।
किं लौक्यमिति ? ब्रह्मचर्यमेवेति !

—१।२।५

९०. अवि सप्ताय महद् भय ससृजे ।

—१।२।१८

९१ आत्मन्येव जुह्वति, न परस्मिन् ।

—१।३।१९

९२. छिद्रो हि यज्ञो भिन्न इवोदधिर्विस्रवति ।

—२।२।५

९३. यजमानेऽध· शिरसि पतिते स देशोऽध·शिरा पतति ।

—२।२।१५

९४. योऽविद्वान् संचरति आर्तिमार्च्छेति ।

—२।२।१७

९५. न हि नमस्कारमतिदेवाः ।
ते ह नमसिताः कर्तारमतिसृजन्ति ।

—२।२।१८

९६. सत्य ब्रह्मणि, ब्रह्म तपसि ।

—२।३।२

९७. अमृतं वै प्रणव', अमृतेनैव तत् मृत्यु तरति ।

—२।३।११

९८. वाग् हि शस्त्रम् ।

—२।४।१०

९९. मन्त्रो वै ब्रह्मा ।

—२।५।४

८८. जो धर्म की रक्षा करता है,धर्म उसकी रक्षा करता है।

८९. पवित्र क्या है ? ब्रह्मचर्य है।
दर्शनीय क्या है ? ब्रह्मचर्य है।

९० अडियल अहकारी को बहुत भय (खतरो) का सामना करना पड़ता है।

९१ विद्वान् अपने मे ही होम करते हैं, दूसरे (अग्नि आदि) मे नही।

९२. छिद्रसहित अर्थात् दूषित यज्ञ (कर्म) फूटे हुए जलाशय के समान बह जाता है।

९३. यजमान (नेता) के ओधेमुँह गिरने पर देश भी ओधेमुँह गिर जाता है।

९४. अनभिज्ञ व्यक्ति यदि किसी कर्म मे प्रवृत्त होता है तो वह केवल क्लेश ही प्राप्त करता है।

९५. देवता (सज्जन पुरुष) नमस्कार का तिरस्कार नही करते, वे नमस्कार अर्थात् अपनी उपासना करनेवाले को अवश्य ही सब प्रकार से संपन्न करते हैं।

९६. सत्य ब्रह्म मे प्रतिष्ठित है और ब्रह्म तप मे।

९७. अमृत (अविनाशी चित् शक्ति) ही स्तुति या उपासना के योग्य है। अमृत से ही मृत्यु को पार किया जाता है।

९८ वाणी शस्त्र भी है।

९९. मन ही ब्रह्मा है, अर्थात् कर्मसृष्टि का निर्माता है।

१००. तम पाप्मा ।

गो० ब्रा०—२।५।३

१०१. या वाक् सोऽग्नि ।

—२।४।११

१०२. अभयमिव ह्यन्विच्छ ।

—२।६।४

१०३ आत्मसस्कृति वै शिल्पानि, आत्मानमेवास्य तत्सस्कुर्वन्ति ।

—२।६'७

१०४ यो ऽसौ तपति स वै शंसति ।

—२।६।१४

१०५ अन्न वै विराट् ।

—*ऐतरेय ब्राह्मण १।६

१०६. ऋत[1] वाव दीक्षा, सत्यं[2] दीक्षा,
तस्माद् दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम् ।

—१।६

१०७ सत्यसंहिता वै देवा ।

—१।६

१०८. चक्षु वै विचक्षणम्, वि ह्येनेन पश्यति[3] ।

—१।६

१०९ विचक्षणवतीमेव वाच वदेत्,
सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति ।

—१।६

---

* ऐतरेय ब्राह्मण आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना द्वारा प्रकाशित (ई० स० १९३०) सस्करण ।

—ऐ० ब्रा० के समस्त टिप्पण सायणाचार्यविरचित भाष्य के हैं ।

—अंक क्रमश. अध्याय तथा खण्ड के सूचक हैं ।

१०० अन्धकार (अज्ञान) पाप है।

१०१. वाणी भी एक प्रकार की अग्नि है।

१०२. तू अभय की खोज कर।

१०३. शिल्प (कला) आत्मा के सस्कार हैं, अतः शिल्प मनुष्य की आत्मा को सस्कारित करते हैं।

१०४. जो तपता है, अपने योग्य कर्म मे जी जान से जुटा रहता है, वही ससार मे प्रशसित होता है।

१०५. विश्व मे अन्न ही विराट् तत्त्व है।

१०६. ऋत (मानसिक सत्यसंकल्प) ही दीक्षा है, सत्य (वाचिक सत्य भाषण) ही दीक्षा है, अत दीक्षित (साधक) को सत्य ही बोलना चाहिए।

१०७. दिव्य आत्माएँ सत्यसहित होती है, अर्थात् उनके प्रत्येक वचन का तात्पर्य सत्य से सम्बन्धित होता है।

१०८. चक्षु ही विचक्षण है, क्योकि चक्षु के द्वारा ही वस्तुतत्त्व का यथार्थ दर्शन एवं कथन होता है।

१०९. विचक्षण अर्थात् आँखो देखा (अनुभूत) वचन ही बोलना चाहिए, क्योकि ऐसा वचन ही सत्य होता है।

---

१. मनसा यथावस्तु चिन्तनमृतशब्दाभिधेयम्। २. वाचा यथावस्तु कथन सत्यशब्दाभिधेयम्। ३. चक्षिङ् दर्शने, इत्यस्माद् धातोरयं शब्दो निष्पन्नः। तथा सति विशेषेण वस्तुतत्त्वमेनेनाऽऽचष्टे पश्यतीति विचक्षण नेत्रम्।

११०. य श्रेष्ठतामश्नुते[1], स किल्विप[2] भवति ।

ऐ० ब्रा०—३।२

१११. देवया विप्र उदीर्यति[3] वाचम् ।

—६।२

११२. अशनाया वै पाप्मा ऽमतिः[4] ।

—६।२

११३. या वै दृप्तो[5] वदति, यामुन्मत्त[6] सा वै राक्षसी वाक् ।

—६।७

११४. मनो वै दीदाय,[7] मनसो हि न किंचन पूर्वमस्ति[8] ।

—१०।८

११५. मनसा वै यज्ञस्तायते ।

—११।११

११६. परिमित वै भूतम्, अपरिमितं भव्यम् ।

—१६।६

११७. वाग् वै समुद्र, न वाक् क्षीयते, न समुद्रः क्षीयते ।

—२३।१

११८. श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाँल्लोकान् जयति ।

—३२।१०

११९. अन्नं हि प्राण· ।

—३३।१

१२०. पशवो विवाहा· ।

—३३।१

---

१. प्रयोगपाटवाभिमानमश्नुते प्राप्नोति । २. पण्डितमन्यत्वेन । ३. उद्-गमयति, उच्चारयतीत्यर्थः । ४ अमतिशब्देन क्षुधा वा पापं वाऽभिधीयते, तयोर्बुद्धिभ्रंशहेतुत्वात् । ५. धनविद्यादिना दृप्तो दर्पं प्राप्त परतिरस्कारहेतुम् ।

११०. जो सत्कर्म मे श्रेष्ठ होने का अहकार करता है, वह भी पाप का भागी होता है।

१११. सदाचारी विद्वान् दैवी वाणी बोलते हैं।

११२. भूख और पापाचार से बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

११३ जो ऐश्वर्य एव विद्या के घमड मे दूसरो का तिरस्कार करने वाली वाणी बोलता है, जो पूर्वापर सम्बन्ध से रहित विवेकशून्य वाणी बोलता है, वह राक्षसी वाणी है।

११४ सर्वार्थ का प्रकाशक होने से मन ही दीप्तिमान् है, मन से पहले कुछ भी नही है—अर्थात् मन के विना किसी भी इन्द्रिय का व्यापार नही होता है।

११५. मन से ही कर्म का विस्तार होता है।

११६ जो भूत है, हो चुका है, वह सीमित है, और जो भव्य है, होने वाला है, वह असीम है—अर्थात् भविष्य की सभावनाएँ सीमातीत हैं।

११७ वाणी समुद्र है। न समुद्र क्षीण होता है, न वाणी ही क्षीण होती है।

११८. श्रद्धा एव सत्य के युगल (जोडे) से ही स्वर्ग लोक को जीता जा सकता है।

११९. अन्न ही प्राण है।

१२० गाय, भैस आदि पशु गृहस्थ जीवन के निर्वाहक है।

---

६ बुद्धिराहित्यात् पूर्वापरसम्बन्धरहिताम्। ७ मन सर्वार्थप्रकाशकत्वाद् दीदाय दीप्तियुक्त भवति। ८. किंचिदपीन्द्रिय व्यापारवन्नास्ति।

१२१. सखा ह जाया ।

ऐ० ब्रा०—३३।१

१२२. ज्योतिर्हि पुत्रः ।

—३३।१

१२३. नाऽनाश्रान्ताय श्रीरस्ति ।

—३३।३

१२४. पापो नृपद्वरो जनः ।

—३३।३

१२५. इन्द्र इच्चरतः सखा ।

—३३।३

१२६. पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे, भूष्णुरात्मा फलग्रहिः[1] ।
शेरे[2] ऽस्य सर्वे पाप्मान, श्रमेण प्रपथे हता ॥
चरैवेति....चरैवेति....

—३३।३

१२७. आस्ते भग[3] आसीनस्य, ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठत ।
शेते निपद्यमानस्य[4], चराति चरतो भग ॥
चरैवेति....चरैवेति....

—३३।३

---

१. आरोग्यरूपफलयुक्तो भवति । २. शेरे शेरते शयाना इव भवन्ति ।
३. सौभाग्यम् । ४. भूमौ शयानस्य ।

१२१. पत्नी सखा (मित्र) है।

१२२. पुत्र घर की ज्योति है।

१२३ श्रम नही करने वाले की समाज मे श्री (शोभा) नही होती। अथवा श्रमहीन आलसी को श्री (लक्ष्मी) प्राप्त नही होती।

१२४ निठल्ला बैठा रहकर खानेवाला श्रेष्ठ जन भी पापी है।

१२५ इन्द्र (ईश्वर) भी चलने वाले का अर्थात् श्रम करने वाले का ही मित्र (सहायक) होता है।

१२६ चलते रहनेवाले पर्यटक की जघाएँ पुष्पिणी हो जाती हैं, सुगंधित पुष्प के समान सर्वत्र निर्माण का सौरभ फैलाती हैं, आदर पाती हैं। चलते रहने वाले का जीवन वर्धिष्णु (निरन्तर विकासशील) एव फलग्रहि (आरोग्य आदि फल से युक्त) होता है। चलने वाले के सब पाप-दोष मार्ग मे ही श्रम से विनष्ट होकर गिर जाते हैं।

चले चलो.... चले चलो . .!

१२७. बैठे हुए का भाग्य बैठा रहता है, उठता या बढ़ता नही। उठ कर खडे होनेवाले का भाग्य उन्नति के लिए उठखड़ा होता है। जो आलसी भूमि पर सोया पड़ा रहता है, उसका भाग्य भी सोता रहता है, जागता नही है। जो देश देशान्तर में अर्जन के लिए चल पडता है, उसका भाग्य भी चल पडता है, दिन-दिन बढ़ता जाता है।

चले चलो.... चले चलो. .!

१२८. कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः[1] ।
उत्तिष्ठँस्त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरन् ॥
चरैवेति.. चरैवेति....

ऐ० ब्रा०—३३।३

१२९. चरन् वै मधु विन्दति, चरन् स्वादुमुदुम्बरम्[2] ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं[3], यो न तन्द्रयते[4] चरन् ॥
चरैवेति .. चरैवेति.. .

—३३।३

१३० ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद् राष्ट्रं समृद्धं भवति ।

—३७।५

१३१. यद् ददामीत्याह यदेव वाचो जितम्[5] ।

—३७।५

१३२ अप्रतीतो जयति सं धनानि ।

—४०।३

१३३. राष्ट्राणि वै धनानि ।

—४०।३

१३४. विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः ।

—४०।४

---

१. चतस्रः पुरुषस्यावस्थाः—निद्रा, तत्परित्यागः, उत्थानं, संचरणं चेति । ताश्चोत्तरोत्तरश्रेष्ठत्वात् कलि-द्वापर-त्रेता-कृतयुगैः समानाः । २. एतदुभयमुपलक्षणम् । तत्र तत्र विद्यमानं भोगविशेषं लभते । ३. श्रेष्ठत्वम् ।

१२८. सोया पडा रहने वाला (आलसी, निष्क्रिय) कलियुग है, निद्रा त्याग कर जग जाने वाला (आलस्य त्यागकर कर्तव्य का सकल्प करने वाला) द्वापर है, उठ कर खड़ा होने वाला (कर्तव्य के लिए तैयार हो जाने वाला) त्रेता है, और कर्तव्य के संघर्पपथ पर चल पड़ने वाला कृत युग है।

चले चलो....चले चलो !

१२९. चलने वाला ही मधु और सुस्वादु उदुम्बर अर्थात् सर्वोत्तम ऐश्वर्य प्राप्त करता है। सूर्य की महिमा को देखिए कि वह चलता हुआ कभी थकता नही है।

चले चलो. ..चले चलो !

१३०. जहाँ क्षत्रिय ब्राह्मण के नेतृत्व मे रहता है, अर्थात् कर्म ज्ञान के प्रकाश मे चलता है, वह राष्ट्र समृद्धि की ओर वढता रहता है।

१३१. जो 'देता हूँ'—यह कहता है, वह एक प्रकार से वाणी की विजय है।

१३२. जो राजा विरोधी शत्रुओ से रहित है, वही समृद्धि प्राप्त कर सकता है।

१३३. राजा के लिए राष्ट्र ही वास्तविक धन है।

१३४. सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण ही राष्ट्र का सरक्षक होता है।

---

४. कदाचिदपि अलसो न भवति। ५ एतदेव वाक्सम्वन्धि जित जयः। .. पूजार्थो जितामिति दीर्घं।

आरण्यक साहित्य की सूक्तियां

१. अग्निर्वै महान् ।

*शाङ्ख्यायन आरण्यक—१।५

२. य एवं विद्वांसमपवदति स एव पापीयान् भवति ।

—१।८

३. यस्त्वमसि सोऽहमस्मि ।

—३।६

४. केन सुखदुःखे इति ? शरीरेण इति ।

—३।७

५ देवता अयाचमानाय वलिं हरन्ति ।

—४।२

६. मा भेत्थाः, मा व्यथिष्ठाः ।

—४।११

७. सत्यं हि इन्द्रः ।

—५।१

---

* ऋग्वेदीय शाङ्ख्यायनारण्यक (कौषीतिकी आरण्यक) आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना द्वारा (ई० सं० १९२२) में प्रकाशित ।

आरण्यक साहित्य की सूक्तियां

●

१. संसार मे अग्नितत्व (तेजस्) ही महान् है ।

२. जो विद्वानो की निन्दा करता है, वह पापी होता है ।

३ हे भगवन् ! जो तू है, वही मै हूँ ।

४. सुख दुःख किस से होते है ? शरीर से होते है ।

५. श्रेष्ठ जन विना मांगे सहयोग देते हैं ।

६. मत डरो, मत व्यथित हो ।

७. सत्य ही इन्द्र है ।

---

*अङ्क क्रमशः अध्याय, तथा कण्डिका के सूचक हैं ।

८ प्रज्ञापेतं शरीरं न सुखं न दुःखं किंचन प्रज्ञपयेत् ।

—शां० आ० ५.७

९ एष प्रज्ञात्मा ऽनन्तोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा
भूयान् भवति, नो एव असाधुना कनीयान् ।

—५।८

१० मनसा वा अग्रे कीर्तयति तद् वाचा वदति,
तस्मान् मन एव पूर्वरूपं वागुत्तररूपम् ।

—७।२

११. यथाऽसौ दिव्यादित्य एवमिदं शिरसि चक्षुर्यथाऽसावन्तरिक्षे
विद्युद् एवमिदमात्मनि हृदयम् ।

—७।४

१२. माता पूर्वरूपं पितोत्तररूपं, प्रजा संहिता ।

—७।१६

१३ प्रज्ञा पूर्वरूपं श्रद्धोत्तररूपं कर्म संहिता ।

—७।१८

१४ सर्वा वाग् ब्रह्म ।

—७।२३

१५. आपस्तृप्ता नदीस्तर्पयति, नद्यस्तृप्ता समुद्रं तर्पयन्ति ।

—१०।७

१६. वाचि मेऽग्निः प्रतिष्ठितो, वाग् हृदये, हृदयमात्मनि ।

—११।६

१७. शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः
श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत् ।

—१३।१

१८. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद्,
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।

८. प्रज्ञा (चेतना) से रहित शरीर सुख दु ख आदि किसी भी प्रकार की अनुभूति नही कर सकता।

९ यह चैतन्य प्रज्ञात्मा अनन्त है, अजर है, अमृत है। न यह सत्कर्मो से वडा होता है, और न असत्कर्मो से छोटा।

१० मनुष्य सर्वप्रथम मन मे सोचता है, फिर उसी को वाणी से बोलता है, अत. मन पूर्व रूप है और वाणी उत्तर रूप है।

११, जिस प्रकार आकाश मे सूर्य है उसी प्रकार मस्तक मे चक्षु (नेत्र) है। और जिस प्रकार अन्तरिक्ष मे विद्युत, है उसी प्रकार आत्मा मे हृदय है।

१२. माता पूर्वरूप है और पिता उत्तर रूप, और प्रजा (सतान) दोनो के बीच की सहिता है।

१३ प्रज्ञा (वुद्धि) पूर्वरूप है और श्रद्धा उत्तर रूप, और कर्म दोनो के बीच की सहिता है।

१४. समग्र वाणी ब्रह्मस्वरूप है।

१५ जल तृप्त होते है तो नदियो को तृप्त करते है, और नदियां तृप्त होती हैं तो समुद्र को तृप्त करती हैं। (इसी प्रकार व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र एव विश्व तृप्त होते जाते हैं।)

१६. मेरी वाणी मे अग्नि (तेज) प्रतिष्ठित है, वाणी हृदय मे प्रतिष्ठित है और हृदय आत्मा मे प्रतिष्ठित है।

१७ साधक को शान्त, दान्त, उपरत (विषयो से विरक्त), तितिक्षु (सहन शील) एव श्रद्धावान् होकर आत्मा मे ही आत्मा का दर्शन करना चाहिए।

१८ जो वेदो (शास्त्रो) को पढकर भी उनका अर्थ (मर्म, रहस्य) नही जानता है, वह केवल भार ढोने वाला मजदूर है, और है फूल एव

योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते,
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

शां० आ०—१४।२

१६. सुमृडीका[1] सरस्वति! मा ते व्योम[2] सदृशि।

*तैत्तिरीय आरण्यक—१।१

२०. स्वस्तिर्मानुषेभ्यः।

—१।६

२१. सहस्रवृदिय भूमि।

—१।१०

२२. जाया भूमिः, पतिर्व्योम।

—१।१०

२३. नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात्,
न निष्ठीवेत्, नवि निवसनः स्नायात्।

—१।२६

२४. उत्तिष्ठत, मा स्वप्त।

—१।२७

२५. मा स्म प्रमाद्यन्तमाध्यापयेत्।

—१।३१

२६. तपस्वी पुण्यो भवति।

—१।६२

२७. ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

—२।२

२८. जुगुप्सेतानृतात्।

—२।८

---

* कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक, आनन्दाश्रममुद्रणालय पूना द्वारा प्रकाशित (ई० स० १८९८) संस्करण।

१. सुष्ठु सुखहेतुर्भव। २. व्योम छिद्रम्।

फलो से हीन केवल सूखा ठूँठ। अर्थ का ज्ञाता ही समग्र कल्याण का भागी होता है। और अन्ततः ज्ञान के द्वारा सब पापो को नष्ट कर नाक (दु.खो से रहित स्वर्ग या मोक्ष) प्राप्त करता है।

१९ हे सरस्वती (ज्ञानशक्ति)! तू मुझे सुख देने वाली हो, तुझमें कोई छिद्र न दिखाई दे।

२०. मानव जाति का कल्याण हो।

२१. यह भूमि उपकारी होने से हजारो-लाखो लोगो के द्वारा अभिनन्दनीय है।

२२. यह भूमि प्राणियो को जन्म देने वाली है, अत जाया है और आकाश वृष्टि आदि के द्वारा पालन करता है, अतः पति है।

२३. जल मे मल मूत्र नही करना चाहिए, थूकना नही चाहिए और न नंगा होकर स्नान ही करना चाहिए।

२४. उठो, मत सोये पडे रहो।

२४. प्रमादी दुराचारी व्यक्ति को अध्ययन नही कराना चाहिए।

२६. तपस्वी पवित्र होता है।

२७. ब्रह्म होता हुआ पुरुष अवश्य ही ब्रह्म को प्राप्त करता है।

२८. असत्य से जुगुप्सा (घृणा) रखनी चाहिए।

—कृ० तै० आ० के समस्त टिप्पण सायणाचार्यविरचित भाष्य के हैं।

—अक क्रमश. प्रपाठक तथा अनुवाक् के सूचक है।

२९ पयो ब्राह्मणस्य व्रतम्।[1]

तै० आ०—२।८

३०. तपो हि स्वाध्याय.[2]।

—२।१४

३१. यावती वै देवतास्ता. सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति ।

—२।१५

३२ आत्मा हि वर.।

—२।१६

३३. हृदा[3] पश्यन्ति[4] मनसा मनीषिण ।

—३।११

३४ शर्म विश्वमिदं जगत्।

—४।१

३५. मधु मनिष्ये[5], मधु जनिष्ये[6], मधु वक्ष्यामि[7], मधु वदिष्यामि ।

—४।१

३६. सह नौ यश., सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।

—७।३

३७. सत्य च स्वाध्यायप्रवचने च[8]।
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च।

—७।६

---

१. व्रतं भोजनमित्यर्थ.। २ सत्स्वपि मेघादिनिमित्तेषु स्वाध्यायमधीते तदा तपस्तप्तं भवति। ३ हृत्पुण्डरीकगतेन नियमितेन अन्त करणेन। ४. ध्यात्वा साक्षात्कुर्वन्ति। ५ मनसि सकल्पयिष्ये। ६. संकल्पादूर्ध्वं ....मधु तन्मधुरं कर्म

२९. ब्राह्मण का भोजन दूध है।

३०. स्वाध्याय स्वयं एक तप है

३१. जितने भी देवता हैं, वे सब वेदवेत्ता ब्राह्मण (विद्वान्) मे निवास करते हैं।

३२. आत्मा ही श्रेष्ठ है।

३३. हृदय कमल मे नियमित (एकाग्र) हुए मन के द्वारा ही मनीषी (ज्ञानी) सत्य का साक्षात्कार करते हैं।

३४ यह समग्र विश्व मेरे को सुखरूप हो, अर्थात् मेरे अनुष्ठेय कर्मो मे विघ्नो का परिहार कर अनुग्रह करे।

३५. मैं मन मे मधुर मनन (संकल्प) करूँगा, सकल्प के अनन्तर मधुर कर्मों का प्रारंभ करूँगा, प्रारभ करने के अनन्तर समाप्तिपर्यंन्त कर्मो का निर्वाह करूँगा, और इस बीच मैं सदैव साथियो के साथ मधुर भाषण करता रहूँगा।

३६. हम (गुरु-शिष्य) दोनो का यश एक साथ बढे, हम दोनो का ब्रह्म-तेज एक साथ बढे।

३७ सत्य का आचरण करना चाहिए, साथ ही स्वाध्याय और प्रवचन भी। तप का अनुष्ठान करना चाहिए, साथ ही स्वाध्याय और प्रवचन भी।

जनिष्ये प्रादुर्भावयिष्ये अनुष्ठातुं प्रारप्स्ये। ७. प्रारभादूर्ध्वं . समाप्तिपर्यन्त निर्वहिष्यामि। ८. स्वाध्यायो नित्यमध्ययनम्, प्रवचनमध्यापन ब्रह्मयज्ञो वा।

३८ सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु,
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु,
मा विद्विषावहै।

—तै० आ० ८।२

३९ अन्नं हि भूताना ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते।[1]
अन्नाद् भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते।

—८।२

४० स तपो ऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत।

—८।६

४१ अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।

—९।२

४२. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व।

—९।२

४३. तपो ब्रह्मेति।

—९।२

४४ ज्योतिरहमस्मि।
ज्योतिर्ज्वलति[2] ब्रह्माहमस्मि।
यो ऽहमस्मि, ब्रह्मास्मि[3]।....
अहमेवाहं, मां जुहोमि।

—१०।१

४५ ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः,
शान्तं तपो, दानं[4] तपः।

(—तै० आ०नारायणोपनिषद्) १०।८

---

१ सर्वस्य संसारव्याधेरौषधम्—निरुक्तम्। २ तज्ज्योतिर्ब्रह्मैव।
३. योऽहं पुरा जीवोऽस्मि स एवेदानीमहं ब्रह्मास्मि।....अज्ञाने विवेकेनापनीते

३८. हम दोनो (गुरु-शिष्य) का साथ-साथ रक्षण हो, हम दोनो साथ-साथ भोजन करें, हम दोनो साथ-साथ समाज के उत्थान के लिए पुरुषार्थ करें। हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें।

३९. प्राणिजगत् मे अन्न ही मुख्य है। अन्नको समग्र रोगो की औषध कहा है। (क्योकि सब औषधियो का सार अन्न में है।) अन्न से ही प्राणी पैदा होते हैं और अन्न से ही बढते है।

४०. उसने तप किया और तप करके इस सब की रचना की।

४१. यह अच्छी तरह से जान लीजिए कि अन्न ही ब्रह्म है।

४२. तप के द्वारा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानिए।

४३. तप ही ब्रह्म है।

४४. मैं ज्योति हूँ। यह जो अन्दर मे ज्योति प्रज्ज्वलित है, वह ब्रह्म मै हूँ। जो मैं पहले जीव हूँ, वही शुद्ध होने पर ब्रह्म हो जाता हूँ। इसलिए मैं ही मैं हू। उपासनाकाल मे भी मैं अपनी ही उपासना करता हूँ।

४५. ऋत (मन का सत्य संकल्प) तप है। सत्य (वाणी से यथार्थ भाषण) तप है। श्रुत (शास्त्रश्रवण) तप है। शान्ति (ऐन्द्रियिक विषयो से विरक्ति) तप है। दान तप है।

सति वस्तुत. पूर्वसिद्धमेव ब्रह्मस्वरूपमिदानीमनुभवितास्मि, न नूनन किंचिद् ब्रह्मत्वमागतम्। ४. धनेषु स्वत्वनिवृत्तिः, परस्वत्वापादनपर्यन्ता।

४६ यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति,
एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति।

—तै० आ० ना० १०।९

४७ विश्वमसि....सर्वमसि।

—१०।२६

४८. ब्रह्ममेतु माम्, मधुमेतु माम्।

—१०।४८

४९. ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्।

—१०।५१

५०. सत्यं परं, परं सत्यं, सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन।

—१०।६२

५१ तपो नानशनात् परम्।
यद्धि परं तपस्तद् दुर्धर्षम् तद् दुराधर्षम्। —१०।६२

५२ दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशंसन्ति,
दानान्नातिदुष्करम्।

—१०।६२

५३. धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं,
धर्मान्नातिदुश्चरम्।

—१०।६२

५४ मानसमिति विद्वांसः, तस्माद् विद्वांस एव मानसे रमन्ते।[1]

—१०।६२

५५. सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।

—१०।६३

५६. दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति,
दाने सर्वं प्रतिष्ठितम्। —१०।६३

---

१ मानस एवोपासते।

४६. जिस प्रकार सुपुष्पित वृक्ष की सुगन्ध दूर-दूर तक फैल जाती है, उसी प्रकार पुण्य कर्म की सुगन्ध भी दूर-दूर तक फैल जाती है।

४७. तू विश्वरूप है, सर्वरूप है, अर्थात् तू कोई क्षुद्र इकाई नही है।

४८. मुझे ब्रह्मत्व प्राप्त हो, मुझे परमानन्दस्वरूप माधुर्य प्राप्त हो।

४९ मैं ज्योति.स्वरूप परब्रह्म हूँ, अतः मुझे पाप एव रजोगुण से रहित होना है।

५०. सत्य श्रेष्ठ है, एवं श्रेष्ठ सत्य है। सत्य का आचरण करने वाले कभी स्वर्ग लोक से च्युत नही होते।

५१ अनशन से बढकर कोई तप नही है, साधारण साधक के लिए यह परम तप दुर्धर्ष है, दुराधर्ष है अर्थात् सहन करना बडा ही कठिन है।

५२. सभी प्राणी दान की प्रशसा करते हैं, दान से बढकर अन्य कुछ दुर्लभ नही है।

५३. धर्म से ही समग्र विश्व परिगृहीत-आवेष्टित है। धर्म से बढकर अन्य कुछ दुश्चर नही है।

५४. विद्वान् मानस-उपासना (साधना) को ही श्रेष्ठ मानते है, इसलिए विद्वान् मानस उपासना में ही रमण करते है।

५५. सत्य वाणी की प्रतिष्ठा है, सत्य में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है।

५६. दान से शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, दान में सब कुछ प्रतिष्ठित है।

५७. धर्मो विश्वस्य जगत· प्रतिष्ठा,
लोके धर्मिष्ठ प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति,
धर्मे सर्व प्रतिष्ठितम्, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति ।

—१०।६३

५८. सर्वं चेदं क्षयिष्णु ।

—*मैत्रायणी आरण्यक १।४

५९ नाऽतपस्कस्याऽत्मज्ञानेऽधिगम· कर्मशुद्धिर्वा ।

—४।३

६० तपसा प्राप्यते सत्त्व, सत्त्वात् सप्राप्यते मन· ।
मनसा प्राप्यते त्वात्मा, ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥

—४ ३

६१. विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभते ब्रह्म ।

—४।४

६२. भोक्ता पुरुषो भोज्या प्रकृति ।

—६।१०

६३. यथा पर्वतमादीप्त नाश्रयन्ति मृगा द्विजा· ।
तद्वद् ब्रह्मविदो दोषा, नाश्रयन्ति कदाचन ॥

—६।·८

६४. द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णात·, पर ब्रह्माधिगच्छति ॥

—६।२२

६५. मानसे च विलीने तु, यत् सुख चात्मसाक्षिकम् ।
तद् ब्रह्म चामृत शुक्र, सा गतिर्लोक एव स· ॥

—६।२४

* यजुर्वेदीय मैत्रायणी आरण्यक, भट्टारक प० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा यजुर्वेदीय मैत्रायणी सहिता के साथ प्रकाशित (वि०स० १९९८) सस्करण ।

५७. धर्म समग्र विश्व की अर्थात् विश्व के सब प्राणियो की प्रतिष्ठा (आश्रय, आधार) है। संसार मे धर्मिष्ठ व्यक्ति के पास ही जनता धर्माधर्म के निर्णय के लिए जाती है। धर्म से ही पाप का नाश होता है, धर्म मे ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। इसलिए विद्वानो ने धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है।

५८. यह समग्र दृश्य जगत् नश्वर है।

५९. जो तपस्वी नही है, उसका ध्यान आत्मा मे नही जमता और इसलिए उसकी कर्मशुद्धि भी नही होती।

६०. तप द्वारा सत्त्व (ज्ञान) प्राप्त होता है, सत्त्व से मन वश मे आता है, मन वश मे आने से आत्मा की प्राप्ति होती है, और आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर संसार से छुटकारा मिल जाता है।

६१. अध्यात्मविद्या से, तप से और आत्मचिन्तन से ब्रह्म की उपलब्धि होती है।

६२ पुरुष (चैतन्य आत्मा) भोक्ता है, और प्रकृति भोज्य है।

६३ जिस प्रकार पशु पक्षी जलते हुए पर्वत का आश्रय ग्रहण नही करते, उसी प्रकार दोष (पाप) ब्रह्मवेत्ता (आत्मद्रष्टा) के निकट नही जाते।

६४ दो ब्रह्म जानने जैसे है—शब्द ब्रह्म और पर ब्रह्म। जो साधक शब्द ब्रह्म मे निष्णात होता है वही पर ब्रह्म को प्राप्त करता है।

६५. मन के विलीन होने पर आत्मसाक्षी (आत्म दर्शन) से जो सुख प्राप्त होता है, वही ब्रह्म है, अमृत है, शुक्र है, वही गति है और वही प्रकाश है।

—यह मैत्रायणी उपनिषद् के नाम से भी प्रसिद्ध है।
अक क्रमश. प्रपाठक एवं कण्डिका के सूचक हैं।

६६ एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
सर्वंभावपरित्यागो योग इत्यभिधीयते ॥

—मै० आ० ६।२५

६७ यथा निरिन्धनो वह्निः, स्वयोनावुपशाम्यते।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं, स्वयोनावुपशाम्यते।

—६।३४-१

६८ चित्तमेव हि ससारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतं सनातनम् ॥

—६।३४-३

६९. चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाऽशुभम्।
प्रसन्नाऽऽ त्मा ऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥

—६।३४-४

७०. समासक्तं यदा चित्तं, जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येव ब्रह्मणि स्यात् तत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥

—६।३४-५

७१. मनो हि द्विविधं प्रोक्त शुद्धं चाऽशुद्धमेव च।
अशुद्ध कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम्।

—६।३४-६

७२. समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,
स्वयं तदन्त करणेन गृह्यते ॥

—६।३४-९

७३. मनएव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो।
बन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै निर्विषय स्मृतम् ॥

—६।३४-११

६६. प्राण, मन एव इन्द्रियों का एकत्व तथा समग्र वाह्य भावो का परित्याग योग कहलाता है।

६७. जिस प्रकार इन्धन के समाप्त हो जाने पर अग्नि स्वय ही अपने स्थान में बुझ जाती है, उसी प्रकार वृत्तियो का नाश होने पर चित्त स्वयमेव ही अपने उत्पत्ति स्थान मे शान्त हो जाता है।

६८. चित्त ही संसार है, इसलिए प्रयत्न करके चित्त को ही शुद्ध बनाना चाहिए। जैसा चित्त होता है वैसा ही मनुष्य बन जाता है, यह सनातन रहस्य है।

६९. चित्त के प्रसन्न (निर्मल) एवं शान्त हो जाने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। और प्रसन्न एव शान्तचित्त मनुष्य ही जव आत्मा मे लीन होता है तव वह अविनाशी आनन्द प्राप्त करता है।

७०. मनुष्य का चित्त जितना विषयो मे लीन होता है, उतना ही यदि वह व्रह्म मे लीन हो जाए तो फिर कौन है जो वन्धन से मुक्त न हो ?

७१. मन दो प्रकार का है, शुद्ध और अशुद्ध। कामनाओ से सहित मन अशुद्ध है, और कामनाओ से रहित मन शुद्ध।

७२. समाधि के द्वारा जिसका मल दूर हो गया है और जो आत्मा में लीन हो चुका है, ऐसे चित्त को जिस आनन्द की उपलब्धि होती है उसका वर्णन वाणी द्वारा नही किया जा सकता, वह तो केवल आन्तरिक अनुभूति के द्वारा ही जाना जा सकता है।

७३. मनुष्यो के वन्धन और मोक्ष का कारण एक मात्र मन ही है। विषयो मे आसक्त रहने वाला मन वन्धन का कारण है और विषयो से मुक्त रहने वाला मन मोक्ष का कारण।

७४. यन्महानभवत्, तन्महाव्रतमभवत् ।

*ऐतरेय आरण्यक—१।१।१

७५. यः श्रेष्ठतामश्नुते, स वा अतिथिर्भवति ।

—१।१।१

७६ न वा असन्तमातिथ्यायाऽऽद्रियन्ते[1] ।

—१।१।१

७७. मनसि वै सर्वे कामाः श्रिताः,
मनसा हि सर्वान् कामान् ध्यायति ।

—१।३।२

७८ वाग् वै सर्वान् कामान् दुहे[2], वाचा हि सर्वान् कामान् वदति ।

—१।३।२

७९ सर्वं हीदं प्राणेनाऽऽवृतम् ।

—२।१।६

८०. तदेतत् पुष्पं फलं वाचो यत्सत्यम् ।

—२।३।६

८१ यथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति स उद्वर्तते[3],
एवमेवानृत वदन्नाविर्मूलमात्मान करोति
स शुष्यति[4], स उद्वर्तते[5], तस्मादनृतं न वदेत् ।

—२।३।६

---

*ऐतरेय आरण्यक आनन्दाश्रम मुद्रणालय; पूना द्वारा (ई० स० १८९८) मे प्रकाशित ।

—समस्त टिप्पण सायणाचार्यविरचितभाष्य के हैं ।

—अक क्रमशः आरण्यक, अध्याय एवं खण्ड के सूचक हैं ।

७४. जो महान् होता है, उसका व्रत (कर्म) भी महान् होता है।

७५. जो सन्मार्ग में श्रेष्ठता को प्राप्त करता है, वही अतिथि होता है।

७६. सन्मार्ग से भ्रष्ट व्यक्ति, भले कितना ही दरिद्र हो, अतिथि के रूप मे समादृत नही होता है।

७७. सब काम (इच्छाएँ) मन मे ही उपस्थित होते हैं, यही कारण है कि सब लोग अभीष्ट पदार्थों का सर्वप्रथम मन से ही ध्यान (संकल्प) करते है।

७८. वाणी ही सब अभीष्ट कामनाओ का दोहन (सम्पादन) करती है, क्योकि मनुष्य वाणी से ही इच्छाओं को बाहर मे व्यक्त करता है।

७९. देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणीमात्र के सब शरीर प्राणवायु से आवृत हैं, व्याप्त हैं।

८०. सत्य वाणीरूप वृक्ष का पुष्प है, फल है।

८१. जिस प्रकार वृक्ष मूल (जड़) के उखड़ जाने से सूख जाता है और अन्ततः नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार असत्य बोलनेवाला व्यक्ति भी अपने आप को उखाड देता है, जनसमाज मे प्रतिष्ठाहीन हो जाता है, निन्दित होने से सूख जाता है—श्री हीन हो जाता है, और अन्ततः नरकादि दुर्गति पाकर नष्ट हो जाता है।

---

१. सन्मार्गरहितं व्रात्याभिशस्तादिक पुरुषमत्यन्तदरिद्रमपि आतिथ्यसत्काराय नाद्रियन्ते। २. अभिलषितान् पदार्थान् सपादयति। ३. भूमेरुत्खात. सन् आविर्मूतमूलो भूत्वा प्रथम शुष्यति पश्चाद् उद्वर्तते—विनश्यति च। ४. सर्वैस्तिरस्कार्यत्वमेव अस्य शोप.। ५ विनश्यति नरकं प्राप्नोतीत्यर्थः।

८२. यत्सर्वं नेति ब्रूयात् पापिका ऽस्य कीर्तिर्जायेत[1],
सैनं तत्रैव[2] हन्यात्[3]।

—ऐ० आ० २।३।६

८३. काल एव दद्यात्, काले न दद्यात्।

—२।३।६

८४. सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते[4],
तत्र देवाः सर्वं एकं भवन्ति[5]।

—२।३।८

८५. प्रज्ञानं ब्रह्म[6]।

—२।६।१

८६. वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।

—२।७।१

८७. वाचा मित्राणि संदधति।

—३।१।६

८८. वागेवेदं सर्वम्[7]।

—३।१।६

८९. अथ खल्वियं[8] दैवी वीणा भवति।

—३।२।५

---

१ [illegible] दुरात्मा धिगेनमित्येवं सर्वे निन्दन्ति। २ गृहे। ३. [illegible] एव। ४. [illegible]मनुयुज्यते। ५. एकं भवन्ति एकत्वं प्रतिपद्यन्ते। ६. [illegible] यदा विवदते तदा जीव इत्युच्यते,

८२, जो लोभी मनुष्य प्रार्थी लोगो को सदैव 'ना ना' करता है, तो जनसमाज मे उस की अपकीर्ति (निन्दा) होती है और वह अपकीर्ति उस को घर मे ही मार देती है, अर्थात् जीता हुआ भी वह कृपण निन्दित मृतक के समान हो जाता है।

८३. योग्य समय पर ही दान देना चाहिए, अन्य किसी अयोग्य समय पर नही।

८४. जहाँ (जिस साधक मे) सत्य का भी सत्य अर्थात् पर ब्रह्म प्रतिष्ठापित हो जाता है, वहाँ सब देवता एक हो जाते है।

८५. देह एव इन्द्रिय आदि का साक्षीस्वरूप यह प्रज्ञान (शुद्ध ज्ञान) ही ब्रह्म है।

८६ मेरी वाणी मन मे प्रतिष्ठित है और मेरा मन वाणी मे प्रतिष्ठित है।

८७. प्रिय वाणी से ही स्नेही मित्र एकत्र होते है।

८८. वाणी ही सब कुछ है; अर्थात् वाणी से ही लौकिक एवं पारलौकिक सभी प्रकार का फल उपलब्ध होता है।

८९. यह शरीर निश्चित ही दैवी वीणा है।

यदा तु शास्त्रप्रतिपाद्यत्वाकारो विवक्षितः तदानी ब्रह्मेत्यभिधीयते। अतो व्यवहारभेदमात्रं, न तु तत्त्वतो भेदोऽस्ति। ७. सर्वमैहिकमामुष्मिकं च फलजातम्। ८. इयं दृश्यमाना शरीररूपा।

[1]उपनिषद् साहित्य की सूक्तियां

१. ईशावास्यमिदं सर्वं
यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा,
मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥

ईशावास्योनिषद्—१*

२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि,
जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति,
न कर्म लिप्यते नरे ॥

—२

३. असुर्या नाम ते लोका,
अन्धेन तमसावृता।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति,
ये केचात्महनो जनाः ॥

—३

---

१. 'अष्टोत्तरशतोपनिषद्' वासुदेव शर्मा द्वारा संपादित निर्णयसागर प्रेस, बम्बई मे (ई० स० १९३२) मुद्रित।

उपनिषद् साहित्य की सूक्तियां

*

१. इस गतिमान संसार मे जो कुछ भी है, वह सब परब्रह्म से—अथवा स्वामित्व भाव से परिवेष्टित है। इसलिए अपने स्वामित्व भाव का परित्याग कर प्राप्त साधनो का उपभोग करो, और जो स्वत्व किसी दूसरे का है, उसके प्रति मत ललचाओ।

२. निष्काम कर्म करते हुए ही इस संसार मे सौ वर्ष जीवित रहने की कामना रखनी चाहिए। इस प्रकार निष्कामकर्मा मनुष्य को कर्म का लेप नही होता। इससे भिन्न अन्य कोई कर्म का मार्ग नही है।

३. जो मनुष्य आत्मा का हनन करते हैं, त्यागपूर्वक भोग नही करते हैं, वे गहरे अन्धकार से आवृत असुर्य-लोक मे जाते है।

---

* अङ्क केवल मंत्रसंख्या के सूचक हैं।

४. यस्तु सर्वाणि भूतानि,
आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं,
ततो न विजुगुप्सते ॥

—६

५. यस्मिन् सर्वाणि भूतानि,
आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक,
एकत्वमनु पश्यतः ॥

—७

६. अन्धं तमः प्रविशन्ति,
ये ऽ विद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो,
य उ विद्यायां रताः ॥

—९

७. विद्यां चाविद्यां च,
यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा,
विद्यया ऽ मृतमश्नुते ॥

—११

८. अन्धं तमः प्रविशन्ति,
ये ऽ संभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो,
य उ सभूत्यां रताः ॥

—१२

९. संभूतिं च विनाशं च,
यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा,
संभूत्या ऽ मृतमश्नुते ॥

—१४

४. जो अन्तर्निरीक्षण के द्वारा सब भूतो (प्राणियो) को अपनी आत्मा मे ही देखता है, और अपनी आत्मा को सब भूतो मे, वह फिर किसी से घृणा नही करता है ।

५ जिस ज्ञानी के ज्ञान मे सब भूत आत्मवत् होगए हैं, उस सर्वत्र एकत्व के दर्शन करने वाले समदर्शी को फिर मोह कैसा, और शोक कैसा ?

६. जो अविद्या अर्थात् केवल भौतिकवाद की उपासना करते हैं, वे गहन अन्धकार मे जा पहुंचते हैं । और जो केवल विद्या अर्थात् अध्यात्मवाद मे ही रत रहने लगते है, सामाजिक दायित्वो की अवहेलना कर बैठते हैं, वे उससे भी गहरे अन्धकार मे जा पहुंचते हैं ।

७. विद्या-ज्ञान तथा अविद्या-कर्म इन दोनो को जो एक साथ जानते हैं, वे अविद्या से मृत्यु को—अर्थात् जीवन के वर्तमान संकटो को पार कर जाते है, और विद्या से 'अमृत' को—अर्थात् अविनाशी आत्मस्वरूप को प्राप्त करते हैं ।

८. जो असभूति (अ+सं+भूति) अर्थात् व्यक्तिवाद की उपासना करते हैं, वे गहन अन्धकार में प्रवेश करते है । और जो सभूति अर्थात् समष्टिवाद मे ही रत रहते है, वे उससे भी गहन अन्धकार मे प्रवेश करते है ।

९ जो संभूति (समष्टिवाद) तथा असंभूति (व्यक्तिवाद)—इन दोनो को एक साथ जानते हैं, वे असभूति से (अपना भला देखने की दृष्टि से) मृत्यु को, वैयक्तिक संकट को पार कर जाते है । और सभूति से (सबको भला देखने की दृष्टि से) अमृतत्व को—अर्थात् अविनाशी आनन्द को चखते हैं ।

१०. हिरण्मयेन पात्रेण,
सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु,
सत्यधर्माय दृष्टये ॥

ईशा० उ०—१५

११. यो ऽ सावसौ पुरुषः सो ऽ हमस्मि ।

—१६

१२. वायुरनिलममृतमथेद,
भस्मान्तं शरीरम् ।
ओम् क्रतो स्मर, कृतं स्मर,
क्रतो स्मर, कृत स्मर ॥

—१७

१३. न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनः ।

केन उपनिषद्—*१।३

१४. यन्मनसा न मनुते,
येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि,
नेदं यदिदमुपासते ॥

—१।५

१५. यच्चक्षुषा न पश्यति,
येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि,
नेदं यदिदमुपासते ॥

—१।६

१६. इह चेदवीदथ सत्यमस्ति,
न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः ।

—२।३

---

*अंक क्रमशः खण्ड एवं कण्डिका के सूचक हैं ।

१० सोने के आवरण (ढक्कन) से—बाहरी चमक दमक से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे पूषन्! (अपना कल्याण चाहने वाले उपासक!) यदि तू सत्य धर्म के दर्शन करना चाहता है, तो उस आवरण को हटादे, पर्दे को उठा दे।

११ वह जो ज्योतिर्मय पुरुष (ईश्वर) है, मैं भी वही हूँ। अर्थात् मुझ में और उस ईश्वर में कोई अन्तर नही है।

१२ अन्तकाल मे शरीर मे रहने वाला प्राणवायु विश्व की वायु में लीन हो जाता है। आखिर इस शरीर का अन्त भस्म के रूप मे ही होता है। अतः हे कर्म करने वाले जीव! तू क्रतु को, जो कर्म तुझे आगे करना है उसे स्मरण कर, और कृत—जो तू अब तक कर्म कर चुका है, उसे भी स्मरण कर!

१३. वहाँ (आत्मा के स्वरूप केन्द्र पर) न आंख पहुँचती है, न वाणी पहुँचती है और न मन ही पहुँचता है।

१४. जिस का मन से मनन (चिन्तन) नही किया जा सकता, अपितु मन ही जिसके द्वारा मनन-चिन्तन करता है, उसी को तू ब्रह्म जान। जिस भौतिक जगत की लोग ब्रह्म के रूप मे उपासना करते है, वह ब्रह्म नही है।

१५. जो चक्षु से नही देखता, अपितु चक्षु ही जिसके द्वारा देखती है, उसी को तू ब्रह्म जान! जिस भौतिक जगत की लोग ब्रह्म रूप मे उपासना करते है, वह ब्रह्म नही है।

१६. यदि तू ने यहाँ—इस जन्म में ही अपने आत्मब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है। यदि यहाँ नही जाना, तो फिर विनाश-ही-विनाश है—महानाश है।

१७. प्रतिबोधविदितं मतम्,
अमृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं,
विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥

—केन० उ० २।४

१८. तस्मै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा ।

—४।८

१९ बहूनामेमि प्रथमो, बहूनामेमि मध्यमः ।

—कठ उपनिषद्—*१।५

२० अनुपश्य यथापूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥

—१।६।

२१. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तक !
एतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।

—१।२६

२२. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ।

—१।२७

२३. अन्यच्छ्रेयो ऽन्यदुतैव प्रेयस् ,
ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति,
हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥

—२।१

२४. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्,
तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरो ऽभि प्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योग-क्षेमाद् वृणीते ॥ —२।२

---

*अंक क्रमशः वल्ली और श्लोक के सूचक हैं ।

१७. आत्म-बोध से ही मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त होता है। आत्मा से ही अनन्त आध्यात्मिक वीर्य (शक्ति) मिलता है। विद्या से—वास्तविक ज्ञान से ही अमृतत्व प्राप्त होता है।

१८ आत्मज्ञान की प्रतिष्ठा अर्थात् बुनियाद तीन बातो पर होती है—तप, दम (इन्द्रियनिग्रह) तथा कर्म—सत्कर्म।

१९. मैं बहुतों मे प्रथम हूँ और बहुतो मे मध्यम हूँ। अर्थात् बिल्कुल निकृष्ट (निकम्मा) नही हूँ।

२०. जो तुझ से पहले हो चुके हैं उन्हे देख, जो तेरे पीछे होगे उन्हे देख ! यह मर्त्य (मरणधर्मा मनुष्य) एक दिन अन्न की तरह पैदा होता है, पकता है, नष्ट होता है और फिर नये जन्म के रूप मे उत्पन्न हो जाता है।

२१. ये संसार के सुखभोग मनुष्य के श्वोभाव हैं, अर्थात् आज हैं कल नही। ये इन्द्रियो के तेज को क्षीण कर देते हैं।

२२. मनुष्य की कभी धन से तृप्ति नही हो सकती।

२३ श्रेय मार्ग अन्य है और प्रेय मार्ग अन्य है। ये दोनो भिन्न-भिन्न उद्देश्यो से पुरुष को बांधते हैं। इनमे से श्रेय को ग्रहण करने वाला साधु (श्रेष्ठ) होता है और जो प्रेय का वरण करता है वह लक्ष्य से भटक जाता है।

२४. श्रेय और प्रेय की भावनाएं जब मनुष्य के समक्ष आती हैं तो धीर पुरुष इन दोनो की परीक्षा करता है, छानबीन करता है। धीर पुरुष (ज्ञानी) प्रेय की अपेक्षा श्रेय का ही वरण करता है और मन्दबुद्धि व्यक्ति योग-क्षेम (सासारिक सुख भोग) के लिए प्रेय का वरण करता है।

२५. नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो[1],
यस्यां मज्जन्ति वहवो मनुष्याः ॥

—कठ० उ० २।३

२६. अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा,
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

—२।५

२७. न साम्परायः प्रतिभाति वालं,
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।

—२।६

२८. श्रवणायापि वहुभिर्यो न लभ्य.
शृण्वन्तोऽपि वहवो यं न विद्यु. ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट. ॥

—२।७

२९. नैषा तर्केण मतिरापनेया ।

—२।९

३०. जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं,
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुव तत् ।

—२।१०

३१. अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं,
मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाति ।

—२।१२

३२. अणोरणीयान् महतो महीयान् ।

—२।२०

1. नचिकेता के प्रति यम की उक्ति ।

२५. सांसारिक सुखो की सोने की सांकल मे तू नही बँधा, जिसमे दूसरे वहुत से लोग तो जकड़े ही जाते हैं।

२६. ससारी जीव अविद्या मे फँसे हुए भी अपने को धीर और पंडित माने फिरते हैं। टेढे-मेढे रास्तो से इधर-उधर भटकते हुए ये मूढ ऐसे जा रहे हैं जैसे अन्धा अन्धे को लिए चल रहा हो।

२७. वैभव के मोह मे पड़े हुए प्रमादी व्यक्ति को परलोक की वात नही सूझती, उसे तो वर्तमान प्रत्यक्ष लोक ही सत्य प्रतीत होता है।

२८. यह आत्मज्ञान अत्यन्त गूढ है। वहुतो को तो यह सुनने को भी नही मिलता, वहुत से लोग सुन तो लेते हैं किन्तु कुछ जान नही पाते। ऐसे गूढ तत्व का प्रवक्ता कोई आश्चर्यमय विरला ही होता है, उसको पाने वाला तो कोई कुशल ही होता है। और कुशल गुरु के उपदेश से कोई विरला ही उसे जान पाता है।

२९. यह आत्म-ज्ञान कोरे तर्क वितर्कों से झुठलाने-जैसा नही है।

३०. मैं जानता हूँ—यह धन सपत्ति अनित्य है। जो वस्तुएँ स्वय अध्रुव (अस्थिर) हैं, उनसे ध्रुव (आत्मा) नहीं प्राप्त किया जा सकता।

३१. जो अध्यात्मयोग के द्वारा दिव्य आत्म-तत्त्व को जान लेता है, वह धीर (ज्ञानी) हो जाता है, फलत. वह हर्ष तथा शोक—दोनो द्वन्द्वो से मुक्त हो जाता है।

३२. आत्म तत्त्व अणु (सूक्ष्म) से भी अणु है, और महान् से भी महान् है।

३३ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्,
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥

—कठ० २।२३

३४. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

—२।२४

३५. यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥

—३।८

३६. उत्तिष्ठत जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत !
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

—३।१४

३७. पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूस्
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्,
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—४।१

३८. मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति।

—४।१०

३९. नेह नानास्ति किंचन।

—४।११

४० यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ! ॥

—४।१५

४१. योनिमन्ये प्रपद्यन्ते, शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति, यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥

—५।७

३३. आत्मा लम्बे चौडे प्रवचनो से नही मिलता, तर्क-वितर्क की बुद्धि से भी नही मिलता और बहुत अधिक पढ़ने सुनने से भी नही मिलता। जिसको यह आत्मा वरण कर लेता है वही इसे प्राप्त कर सकता है। उसके समक्ष आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर रख देता है।

३४ जो व्यक्ति दुराचार से विरत नही है, अशान्त है, तर्क-वितर्क मे उलझा हुआ है, चचलचित्त है, उसे आत्मस्वरूप की उपलब्धि नही हो सकती। आत्मा को तो प्रज्ञान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

३५. विवेकबुद्धि एवं सयत मन वाला पवित्रहृदय पुरुष उस परमात्म-स्वरूप परमपद को पा लेता है, जहाँ से लौटकर फिर जन्म धारण नही करना होता।

३६. उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषो के सम्पर्क मे रहकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करो। क्योकि बुद्धिमान पुरुष इस (आत्मज्ञानसम्बन्धी) मार्ग को छुरे की तीक्ष्ण-धार के समान दुर्गम कहते हैं।

३७. स्वयम्भू ने सब इन्द्रियो के द्वार बाहर की ओर निर्मित किए है, इसलिए इन्द्रियो से बाह्य वस्तुएँ ही देखी जा सकती है, अन्तरात्मा नही! अमृतत्व को चाहने वाला कोई विरला ही धीर पुरुष ऐसा होता है, जो बाह्य विषयो से आँखे मूँद लेता है और अन्तर्मुख हो कर अन्तरात्मा के दर्शन करता है।

३८ जो व्यक्ति नानात्वका अर्थात् जीवन मे अनेकता का ही दर्शन करता है, एकत्वका नही, वह निरन्तर मृत्यु से मृत्यु की ओर बढता रहता है।

३९. यहाँ (विश्व में एवं जनजीवन में) नानात्व अर्थात् अनेकता—जैसा कुछ नही है।

४० हे गौतम! जैसे वृष्टि का शुद्ध जल अन्य शुद्ध जल मे मिलकर उस-जैसा ही हो जाता है, वैसे ही परमात्मतत्व को जानने वाले ज्ञानीजनो का आत्मा भी परमात्मा मे मिलकर तद्रूप अर्थात् परमात्मरूप हो जाता है।

४१. जिसका जैसा कर्म होता है और जिसका जैसा ज्ञान होता है उसी के अनुसार प्राणी, जगम एवं स्थावररूप विभिन्न योनियो मे जाकर, शरीर धारण कर लेता है।

४२. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

—कठ० ६।११

४३. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

—६।१४

४४. तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं,
येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥

—प्रश्न उपनिषद् *१।१५

४५. तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको,
न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥

—१।१६

४६. समूलो वा एष परिशुष्यति यो ऽनृतमभिवदति ।

—६।१

४७. तपसा चीयते ब्रह्म ।

—मुण्डक उपनिषद् [1]१।१।८

४८. तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ,
अमृतस्यैष सेतुः ।

—२।२।५

४९. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

—२।२।८

५०. विद्वान् भवते नातिवादी ।

—३।१।४

---

*अंक क्रमशः प्रश्न एवं कण्डिका के सूचक हैं ।

१. अंक क्रमशः मुण्डक, खण्ड एव श्लोक के सूचक हैं ।

४२. इन्द्रियो की स्थिरता को ही योग माना गया है। जिसकी इन्द्रियां स्थिर हो जाती हैं, वह अप्रमत्त हो जाता है। योग का अभिप्राय है—प्रभव तथा अप्यय अर्थात् शुद्ध संस्कारो की उत्पत्ति एव अशुद्ध संस्कारो का नाश।

४३. जब मनुष्य के हृदय की समस्त कामनाएँ छूट जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमृत (अमर) हो जाता है और यही—इस जन्म मे ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता।

४४. ब्रह्मलोक उनका है, जो तप, ब्रह्मचर्य तथा सत्य मे निष्ठा रखते हैं।

४५. शुद्ध, निर्मल ब्रह्मलोक उन्ही को प्राप्त होता है, जिन मे कुटिलता नही, अनृत (असत्य) नही, माया नही।

४६. जो व्यक्ति असत्य बोलता है, वह समूल अर्थात् सर्वतोभावेन जडसहित सूख जाता है, नष्ट हो जाता है।

४७. तप के द्वारा ही ब्रह्म (परमात्मभाव) प्रवृद्ध होता है, विराट् होता है।

४८. एकमात्र आत्मा को—अपने आप को पहचानो, अन्य सब बाते करना छोड़ दो। ससार-सागर से पार होकर अमृतत्व तक पहुंचने का यही एक सेतु (पुल) है।

४९. हृदय की सब गाठें स्वयं खुल जाती हैं, मन के सब सशय कट जाते हैं, और साथ ही शुभ अशुभ कर्म भी क्षीण हो जाते हैं, जब उस परम चैतन्य का पर और अवर (ओर छोर, पूर्णस्वरूप) देख लिया जाता है।

५०. विद्वान् (तत्त्वज्ञ) अतिवादी नही होता, अर्थात् वह सक्षेप मे मुद्दे की बात करता है, बहुत अधिक नही बोलता।

५१. आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्,
एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः । —मु० उ० ३।१।४

५२. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ।

—३।१।५

५३ सत्यमेव जयते नाऽनृतं,
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।

—३।१।६

५४. दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च,
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ।

— ३।१।७

५५. नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः,
न च प्रमादात् तपसो वा ऽ प्यलिङ्गात् ।

—३।२।४

५६. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे,
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः,
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

—३।२।८

५७. ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः ।
—तैत्तिरीय उपनिषद् *१।४।१

५८. अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते ।

—१।५।३

---

*अंक क्रमशः वल्ली, अनुवाक एवं कण्डिका के सूचक हैं ।

५१. जो साधक आत्मा मे ही क्रीड़ा करता है, आत्मा मे ही रति (रमण) करता है, फिर भी सामाजिक जीवन मे क्रियाशील रहता है, वही ब्रह्मवेत्ताओ मे वरिष्ठ (श्रेष्ठ) माना जाता है।

५२. यह आत्मा नित्य एव निरन्तर के सत्य से, तप से, सम्यग्ज्ञान से तथा ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त किया जा सकता है। शरीर के भीतर ही वह आत्म-तत्व शुभ्र ज्योतिर्मय रूप मे विद्यमान है। यति (साधक) लोग राग-द्वेषादि दोषो का क्षय करके ही उसको देख पाते है।

५३. सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नही। 'देवयानपन्था'—देवत्व की तरफ जाने वाला मार्ग सत्य से ही बना है।

५४ वह परम चैतन्यतत्त्व दूर से दूर है, परन्तु देखने वालो के लिए निकट से निकट इसी अन्तर की गुफा मे विद्यमान है।

५५. आत्मा को साधना के बल से हीन तथा प्रमादग्रस्त व्यक्ति प्राप्त नही कर सकते हैं, और न 'अलिङ्ग-तप'—अर्थात् प्रयोजनहीन तप करने वाला ही इसे प्राप्त कर सकता है।

५६. प्रवहमान नदियां जैसे अपने पृथक्-पृथक् नाम और रूपो को छोड़कर समुद्र मे लीन हो जाती हैं—समुद्रस्वरूप हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानीजन अपने पृथक् नाम-रूप से छूटकर परात्पर दिव्य पुरुष (ब्रह्म) में लीन हो जाते हैं।

५७. तू ज्ञान का कोश है—खजाना है, चारो ओर मेधा (बुद्धि) से घिरा हुआ है।

५८. अन्न से ही सब प्राणो की महिमा बनी रहती है।

५९. सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।[1]

—तै० उ० १।११।१

६०. सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्,
कुशलान्न प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम्,
स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।

—१।११।१

६१. मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव,
अतिथिदेवो भव ।

—१।११।२

६२. यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि ।
यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि ।

—१।११।२

६३. श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्,
ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम् ।

—१।११।३

६४. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

—*२।१

६५. यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कदाचन ॥

—२।२

६६. रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।

—२।७

---

* अंक क्रमशः वल्ली एवं अनुवाक के सूचक है ।

१. ५९ से ६३ तक का उपदेश, प्राचीनकाल में आचार्य के द्वारा,

५९. सदैव सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, कभी भी स्वाध्याय मे प्रमाद (आलस्य) मत करना ।

६०. सत्य को न छोड़ना, धर्म से न हटना, श्रेष्ठ कर्मों से न डिगना, राष्ट्र एवं समाज की विभूति (साधन, संपत्ति) बढ़ाने मे आलस्य न करना, स्वाध्याय (स्वय अध्ययन) और प्रवचन (अधीत का दूसरो को उपदेश) मे प्रमाद मत करना ।

६१. माता को देवता समझना, पिता को देवता समझना, आचार्य को देवता समझना, और द्वार पर आए अतिथि को भी देवता समझना । अर्थात् माता-पिता आदि के साथ देवताओ जैसा आदर-भाव रखना ।

६२. जो अनवद्य, अर्थात् अच्छे कर्म हैं, उन्ही का आचरण करना, दूसरो का नही । हमारे भी जो सुचरित (सत्कर्म) हैं, उन्ही की तुम उपासना करना, दूसरो की नही ।

६३. श्रद्धा से दान देना, अश्रद्धा से भी देना, अपनी बढ़ती हुई (धनसम्पत्ति) में से देना, श्री-वृद्धि न हो तो भी लोकलाज से देना, भय (समाज तथा अपयश के डर) से देना, और सविद् (प्रेम अथवा विवेक बुद्धि) से देना ।

६४. ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है, अनन्त है ।

६५. वाणी जहाँ से लौट आती है, मन जिसे प्राप्त नही कर सकता, उस आनन्दरूप ब्रह्म को जो जान लेता है, वह कभी किसी से भयभीत नही होता ।

६६. वह परब्रह्म रसरूप है । तभी तो यह बात है कि मनुष्य जहाँ कही भी रस पाता है, तो सहज आनन्दमग्न हो जाता है ।

विद्याध्ययन करके के अनन्तर घर लौटनेवाले शिष्य को, दीक्षान्त भाषण के रूप में दिया जाता था ।

६७. यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते,
अथ तस्य भयं भवति ।

—तै० उ० २।७

६८. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खलु
इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं प्रयन्ति, अभिसंविशन्तीति ।

—३।६

६९. अन्नं न निन्द्यात् ।

३।७

७०. अन्नं बहु कुर्वीत, तद् व्रतम् ।

—३।९

७१. न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत, तद् व्रतम् ।
तस्माद्, यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्,
अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते ।

—३।१०

७२. पुरुषो वाव सुकृतम् ।

—ऐतरेय उपनिषद् *१।२।३

७३. यद्धैनद् वाचाऽग्रहैष्यद्, अभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ।

—१।३।३

७४. यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति ।

—छान्दोग्य उपनिषद् [1]१।१।१०

७५. क्रतुमयः पुरुषो, यथाक्रतुरस्मिँल्लोके
पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति ।

—३।१४।१

---

* अङ्क क्रमशः अध्याय, खण्ड एवं कण्डिका के सूचक हैं ।

१. अंक क्रमशः प्रपाठक, खण्ड एवं कण्डिका के सूचक हैं ।

६७. जब यह जीव अपने मे तथा ब्रह्म मे जरा भी अन्तर (भेदबुद्धि) रखता है, बस, तभी उसके लिए भय आ खड़ा होता है।

६८ उसने जाना कि आनन्द ब्रह्म है। आनन्द से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद आनन्द से ही जीवित रहते हैं, और अन्तत. आनन्द मे ही विलीन होते है।

६९. अन्न की निन्दा मत करो।

७० अन्न अधिकाधिक उपजाना—बढाना चाहिए, यह एक व्रत (राष्ट्रीय प्रण) है।

७१ घर पर आए अतिथि को कभी निराश नही करना चाहिए—यह एक व्रत है। इसके लिए जैसे भी हो, यथेष्ट विपुल अन्न जुटाना ही चाहिए। जो भोजन तैयार किया जाता है, वह अतिथि के लिए ही किया जाता है—ऐसा प्राचीन महर्षियो ने कहा है।

७२ नि सन्देह मनुष्य ही विधाता की सुन्दर कृति है।

७३ (अन्न के लिए पुरुषार्थ करना होता है, अन्न कोरी बातो से नही प्राप्त किया जा सकता।) यदि अन्न केवल वाणी से पकड मे आने वाला होता तो वाणी द्वारा 'अन्न' कह देने मात्र से सब लोग तृप्त हो जाते, सब की भूख शान्त हो जाती।

७४. जो काम विद्या से, श्रद्धा से और उपनिषद् (तात्त्विक अनुभूति) से किया जाता है, वह वीर्यशाली अर्थात् सुदृढ होता है।

७५ पुरुष क्रतुमय है, कर्ममय है। यहा इस लोक मे जैसा भी कर्म किया जाता है, वैसा ही कर्म यहाँ से चलकर आगे परलोक मे होता है। अर्थात् मनुष्य जैसा अच्छा या बुरा कर्म यहाँ करता है, वैसा ही उसका वहाँ परलोक बनता है।

७६. स यदशिशिषति यत्पिपासति, यन्न रमते, ता अस्य दीक्षा ।

—छां० उ० ३।१७।१

७७. यत् तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा ।

—३।१७।४

७८. आचार्याद्धेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति ।

—४।९।३

७९. एष उ एव वामनी, एष हि सर्वाणि वामानि अभिसंयन्ति ।

—४।१५।३

८०. एष उ एव भामनी, एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति ।

—४।१५।४

८१. एषा ब्रह्मणमनुगाथा—यतो यत आवर्तते तत् तद् गच्छति ।

—४।१७।९

८२. यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति ।

—५।१।१

८३. श्रोत्रं वाव सम्पत् ।

—५।१।४

८४ य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ।
य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् ।

—५।१०।७

८५. जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते ।

—६।११।३

८६. तरति शोकमात्मविद् ।

—७।१।३

८७. यद् वै वाङ् नाऽभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्,
न सत्यं नानृतं, न साधु नासाधु ।

—७।२।१

७६ जो व्यक्ति खाता है, पीता है, परन्तु इनमे रम नही जाता, उसका जीवन 'दीक्षा' का जीवन है ।

७७. जो व्यक्ति तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्यवचन में जीवन व्यतीत करता है, उसका जीवन 'दक्षिणा' का जीवन है ।

७८. आचार्य से सीखी हुई विद्या ही सबसे उत्तम एवं फलप्रद होती है ।

७९. यह आत्मा 'वामनी' है, क्योकि सृष्टि के सभी सौन्दर्यों का यह आत्मा नेता है, अग्रणी है ।

८०. यह आत्मा 'भामनी' है, क्योकि यह आत्मा ही समग्र लोको मे अपनी आभा से प्रकाशमान होरहा है ।

८१. ब्रह्मा (नेता) के लिए यह गाथा प्रसिद्ध है कि जहाँ से भी हताश-निराश होकर कोई व्यक्ति वापस लौटने लगता है, अर्थात् लक्ष्यभ्रष्ट होता है, वहाँ वह अवश्य ही सहायता के लिए पहुँच जाता है ।

८२ जो ज्येष्ठ (महान्) तथा श्रेष्ठ (उत्तम) की उपासना करता है, वह स्वय भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है ।

८३ श्रोत्र सबसे बडी सम्पत्ति है,—क्योकि संसार मे सुनने वाला ही समय पर कुछ कर सकता है ।

८४ अच्छे आचरण वाले अच्छी योनि मे जाते हैं । और बुरे आचरण वाले बुरी योनि मे जाते हैं ।

८५ जीव से रहित शरीर ही मरता है, जीव नही मरता ।

८६. जो आत्मा को—अपने आप को जान जाता है, वह दु खसागर को तैर जाता है ।

८७ यदि वाणी न होती तो न धर्म-अधर्म का ज्ञान होता, न सत्य-असत्य का ज्ञान होता, और न भले-बुरे की ही कुछ पहचान होती ।

८८ कर्मणा संक्लृप्त्यै लोक संकल्पते,
लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्व संकल्पते । —छां० उ० ७।४।२

८९ बलं वाव विज्ञानाद् भूयो ऽपि ह शतं
विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते ।
स यदा बली भवति अथोत्थाता भवति ।

—७।८।१

९० बलेन लोकस्तिष्ठति, बलमुपास्व ।

—७।८।१

९१ स्मरो वाव आकाशाद् भूय. ।

—७।१३।१

९२. ना ऽविजानन् सत्य वदति,
विजानन्नेव सत्य वदति ।

—७।१७।१

९३ ना ऽमत्वा विजानाति, मत्वैव विजानाति ।

—७।१८।१

९४ नाश्रद्दधन्मनुते ।

—७।१९।१

९५ यदा वै करोति अथ निस्तिष्ठति,
ना ऽकृत्वा निस्तिष्ठति ।

—७।२१।१

९६ यो वै भूमा तत्सुख, ना ऽल्पे सुखमस्ति ।

—७।२३।१

९७. यो वै भूमा तदमृतम्, अथ यदल्प तन्मर्त्यम् ।

—७।२४।१

९८ न पश्यो मृत्यु पश्यति, न रोगं, नोत दु.खताम् ।

— ७।२६।२

८८ कर्म के सकल्प से लोक, और लोक के सकल्प से सब कुछ चल रहा है।

८९. बल विज्ञान से बडा है। एक बलवान् सौ विज्ञानवानो अर्थात् विद्वानो को कपा देता है। विज्ञानवान् जब बलवान होता है, तभी कुछ करने को उठता है, तैयार होता है।

९०. बल से ही समग्र लोक की स्थिति है, अत बल की उपासना करो

९१. स्मृति आकाश से बड़ी है। (यही कारण है कि आकाश मे तो शब्द आता है और चला जाता है, किन्तु स्मृति मे तो शब्द स्थिर होकर बैठ जाता है।)

९२. जिसे ज्ञान नही होता, वह सत्य नही बोल सकता। जिसे ज्ञान होता है, वही सत्य बोलता है।

९३ जो मनन नही करता, वह कुछ भी समझ नही पाता। मनन करने से गूढ से गूढ रहस्य भी समझ मे आ जाता है।

९४. बिना श्रद्धा के मनन नही होता।

९५ निष्ठा उसी को प्राप्त होती है, जो कर्मण्य होता है। बिना कर्मण्यता के निष्ठा नही होती।

९६. जो 'भूमा'—असीम है, महान् है, वही सुख है। और जो 'अल्प'—ससीम है, क्षुद्र है, उसमे सुख नही है।

९७ जो भूमा है, वह अमृत है, अविनाशी है। और जो अल्प है, वह मर्त्य है, अर्थात् मरणधर्मा है, विनाशी है।

९८. जो आत्मा के भूमा-विराट रूप को देख लेता है, वह फिर कभी मृत्यु को नही देखता, रोग को नही देखता, और न अन्य किसी दुःख को देखता है, —अर्थात् आत्मद्रष्टा मृत्यु, रोग एव दुःख से मुक्त हो जाता है।

९९. सर्वं ह पश्यः पश्यति, सर्वमाप्नोति सर्वशः ।

—छां० उ० ७।२६।२

१००. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः,
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।

—७।२६।२

१०१. ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितम् ।

—८।१।४

१०२. नास्य जरया एतज्जीर्यति, न वधेनास्य हन्यते ।

—८।१।५

१०३. अथ यदि सखिलोककामो भवति,
संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति ।

—८।२।५

१०४. सत्या कामा अनृतापिधानाः ।

—८।३।१

१०५ ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ।

—८।३।२

१०६ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ।

—८।५।२

१०७. आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ
लोकाववाप्नोतीमं चामुं च ।

—८।८।४

१०८ अददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बत ।

—८।८।५

९९. आत्मा के भूमा स्वरूप का साक्षात्कार करने वाला सब कुछ देख लेता है, सब तरह से सब कुछ पा लेता है। अर्थात् आत्म-द्रष्टा के लिए कुछ भी प्राप्त करने जैसा शेष नही रहता।

१००. आहार शुद्ध होने पर सत्त्व (अन्तःकरण) शुद्ध हो जाता है, सत्त्व शुद्ध होने पर ध्रुव स्मृति हो जाती है—अपने ध्रुव एवं नित्य आत्म-स्वरूप का स्मरण हो आता है, अपने ध्रुव स्वरूप का स्मरण हो आने पर अन्दर की सब गाँठें खुल जाती हैं—अर्थात् आत्मा बन्धनमुक्त हो जाता है।

१०१. शरीररूपी ब्रह्मपुरी मे सब कुछ समाया हुआ है।

१०२ शरीर के जराजीर्ण होने पर वह (चैतन्य) जीर्ण नही होता, शरीर के नाश होने पर उसका नाश नही होता।

१०३. जब भी मानवआत्मा को सच्चे मन से मित्रलोक की कामना होती है, तो संकल्पमात्र से उसे सर्वत्र मित्र ही मित्र दिखाई देते हैं।

१०४ मानव-हृदय मे सत्य-कामनाएँ मौजूद रहती हैं, परन्तु विषयो के प्रति होनेवाली मिथ्या तृष्णा का उन पर आवरण चढ़ा रहता है।

१०५. तृष्णा के अनृत आवरण से आच्छादित रहने के कारण ही साधारण जन ब्रह्म रूप अपने आत्म-स्वरूप को नही पहिचान पाते।

१०६. जिसे महर्षि मौन कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है—अर्थात् मौन वाणी का ब्रह्मचर्य है।

१०७. आत्मा की पूजा एवं परिचर्या (सेवा) करने वाला मनुष्य दोनो लोको को सुन्दर बनाता है—इस लोक को भी और उस लोक को भी।

१०८ जो दान नही देता, श्रेष्ठ आदर्शों के प्रति श्रद्धा नही रखता, यज्ञ (लोक-हितकारी सत्कर्म) नही करता, उसे असुर कहते हैं।

१०९ न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति,
अशरीर वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।

—छां० उ० ८।१२।१

११० मनोऽस्य दैवं चक्षुः।

—८।१२।५

१११. अशनाया हि मृत्यु ।

—बृहदारण्यक उपनिषद् *१।२।१

११२ श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्।

—१।२।६

११३. स नैव रेमे, तस्माद् एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्।

—१।४।३

११४. स्त्री-पुमांसौ संपरिष्वक्तौ, स इममेवात्मान द्वेधा ऽपातयत्,
तत. पतिश्च पत्नीचाभवताम्।

—१।४।३

११५ य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते,
न हाऽस्य प्रियं प्रमायुकं भवति।

—१।४।८

११६. य एवं वेदा 'ऽहं ब्रह्मास्मी'ति स इद सर्व भवति,
तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते ।

—१।४।१०

११७. यो ऽन्यां देवतामुपास्ते ऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद,
यथा पशुरेवं स देवानाम्।

—१।४।१०

---

* अक क्रम से अध्याय, ब्राह्मण एव कण्डिका की संख्या के सूचक है।

१०९ जब तक साधक की शरीर के साथ एकत्वबुद्धि बनी रहेगी, सुख दु:ख से नही छूट सकेगा। अपने अशरीररूप मे, देहातीत आत्मभाव मे आने पर साधक को सुख दु:ख छू भी नही सकते।

११० मन आत्मा का दैव चक्षु है, दिव्य नेत्र है। (मन के द्वारा ही आत्मा आगे-पीछे, भूत-भविष्यत् सब देखता है।)

१११. वस्तुतः अशनाया (भूख) ही मृत्यु है।

११२. यथोचित श्रम तथा तप करने पर ही यश एव बल का उदय होता है।

११३ सृष्टि के प्रारम्भ मे वह (ईश्वर, ब्रह्म) अकेला था, इसलिए उसका जी नही लगा, अत. उसने दूसरे की इच्छा की। अर्थात् व्यक्ति समाज की रचना के लिए प्रस्तुत हुआ।

११४ स्त्री और पुरुष दोनो मूल मे सपृक्त हैं, एकमेक हैं। ईश्वर ने अपने आपको दो खण्डो (टुकड़ो) मे विभाजित किया। वे ही दो खण्ड परस्पर पति और पत्नी होगए।

११५ जो अपने आत्मा की ही प्रिय रूप मे उपासना करता है, उसके लिए कोई भी नश्वर वस्तु प्रिय नही होती।

११६ जो यह जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ'—'मैं क्षुद्र नही, महान् हूँ—वह सब कुछ हो जाता है, देवता भी उसके ऐश्वर्य को रोक नही पाते।

११७. जो अपने से अन्य भिन्न देवता की उपासना करता है, अर्थात्—वह अन्य है, मै अन्य हूँ, इस प्रकार क्षुद्र भेद दृष्टि रखता है, वह नासमझ है, वह मानो देवो के सामने पशुसदृश है।

११८. क्षत्रात्परं नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्ताद् उपास्ते राजसूये; क्षत्र एव तद्यशो दधाति ।

—बृ० उ० १।४।११

११६ यो वै स धर्मः, सत्यं वै तत् ।

—१।४।१४

१२०. य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हा ऽस्य कर्म क्षीयते ।

—१।४।१५

१२१. न ह वै देवान् पापं गच्छति ।

—१।५।२०

१२२. अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन ।

—२।४।३

१२३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः ।

—२।४।५

१२४. आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम् ।

—२।४।५

१२५. सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ।

—२।४।११

१२६. इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु ।

—२।५।१

१२७. यो ऽयमात्मा इदममृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम् ।

—२।५।१

१२८. अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मधु ।

—२।५।११

११८. क्षात्र धर्म से बढ़ कर कुछ नही है, इसीलिए राजसूय यज्ञ मे ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठता है, अपने यश को क्षात्र धर्म के प्रति समर्पित कर देता है।

११९ जो धर्म है, वह सत्य ही तो है।

१२०. जो आत्मलोक की उपासना करता है—अपने 'ब्रह्म' अर्थात् महान् रूप को समझ लेता है, उसके सत्कर्म (अच्छे काम करते रहने की शक्ति) कभी क्षीण नही होते।

१२१ देवो को–दिव्य आत्माओ को पाप का स्पर्श नही होता।

१२२ धन से अमरता की आशा न करो।

१२३ आत्मा का ही दर्शन करना चाहिए, आत्मा के सम्बन्ध में ही सुनना चाहिए, मनन-चिन्तन करना चाहिए, और आत्मा का ही निदिध्यासन–ध्यान करना चाहिए।

१२४. एक मात्र आत्मा के ही दर्शन से, श्रवण से, मनन-चिन्तन से और विज्ञान से—सम्यक् जानने से सब कुछ जान लिया जाता है।

१२५ सब वेदो (शास्त्रो) का वाणी ही एक मात्र मार्ग है।

१२६. यह पृथिवी सब प्राणियो का मधु है—अर्थात् मधु के समान प्रिय है।

१२७. आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा ही यह सब कुछ है।

१२८ यह धर्म सब प्राणियो को मधु के समान प्रिय है।

१२९ इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मधु ।

—बृ० उ० २।५।१३

१३०. पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन ।

—३।२।१३

१३१. ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् ।

—३।५।१

१३२. अदृष्टो द्रष्टा ।

—३।७।२३

१३३. श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठिता ।

—३।९।२१

१३४. कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठिता ? सत्ये ।
कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितम् ? हृदये

—३।९।२३

१३५ आत्मा ऽगृह्यो, न हि गृह्यते; अशीर्यो न हि शीर्यते,
असंगो, न हि सज्यते, असितो न हि व्यथते, न रिष्यते ।

—३।९।२६

१३६. यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी
साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति ।

—४।४।५

१३७. काममय एवायं पुरुष इति, स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति,
यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ।

—४।४।५

१३८. विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ।

—४।४।२०

१३९. तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तद् ॥

—४।४।२१

१२९. यह मानुष भाव—मानवता अर्थात् इन्सानियत—सब प्राणियो को मधु के समान प्रिय है।

१३० पुण्य कर्म से जीव पुण्यात्मा (पवित्र) होता है, और पाप कर्म से पापात्मा (पतित-मलिन) होता है।

१३१. ब्रह्मज्ञानी पाण्डित्य को—विद्वत्ता के दर्प को—छोड़ कर बालक—जैसा सरल बन जाता है।

१३२ आत्मा स्वय अदृष्ट रह कर भी द्रष्टा है, देखने वाला है।

१३३ श्रद्धा मे ही दान-दक्षिणा की प्रतिष्ठा है, शोभा है।

१३४ दीक्षा किस में प्रतिष्ठित है ? सत्य मे।
सत्य किस मे प्रतिष्ठित है ? हृदय मे।

१३५. आत्मा अग्राह्य है, अत वह पकड मे नही आता, आत्मा अशीर्य है, अत. वह क्षीण नही होता, आत्मा असंग है, अतः वह किसी से लिप्त नही होता, आत्मा असित है—बन्धनरहित है, अतः वह व्यथित नही होता, नष्ट नही होता।

१३६ जो जैसा कर्म करता है, जैसा आचरण करता है वह वैसा ही हो जाता है—साधु कर्म करनेवाला साधु होता है, और पापकर्म करने वाला पापी।

१३७. यह पुरुष काममय है, संकल्परूप है। जैसा संकल्प होता है, वैसा ही क्रतु अर्थात् प्रयत्न होता है, जैसा क्रतु होता है वैसा ही कर्म होता है, और जैसा कर्म होता है वैसा ही उसका फल होता है।

१३८ यह अजन्मा आत्मा महान् ध्रुव है, मलरहित आकाश से भी बढ कर महान् निर्मल है।

१३९. धीर ब्राह्मण को उचित है कि वह आत्मतत्व का बोध करके अपने को प्रज्ञायुक्त करे, लम्बे-चौड़े शब्द जाल मे न उलझे, क्योकि आत्म बोध के अतिरिक्त सब कुछ वाणी का थकाना मात्र है, और कुछ नही।

१४० अभयं वै ब्रह्म ।

—बृ० उ० ४।४।२५

१४१. तदेतद् एवैषा दैवी वाग् अनुवदति स्तनयित्नुर्-
'द द द' इति, दाम्यत दत्त दयध्वमिति,
तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दम दानं दयामिति ।[1]

—५।२।३

१४२. एतद् वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते,
परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद ।

—५।११।१

१४३. सत्यं बले प्रतिष्ठितम् ।

—५।१४।४

१४४. प्रातरादित्यमुपतिष्ठते-दिशामेकपुण्डरीकमसि,
अहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासम् ।

—६।३।६

१४५. श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासाः ।

—६।४।६

१४६ तं वा एतमाहु:—अतिपिता बताभूः, अतिपितामहो बताभूः ।

—६।४।२८

१४७. दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं,
विद्वान् मनो धारयेता ऽप्रमत्तः ।

—श्वेताश्वतर उपनिषद् *२।६

---

* अंक क्रमश. अध्याय तथा श्लोक की संख्या के सूचक हैं ।

१. प्रजापति ने शिक्षा के लिए आए देव, मनुष्य और असुरो को क्रमशः

१४०. अभय ही ब्रह्म है—अर्थात् अभय हो जाना ही ब्रह्मपद पाना है।

१४१. प्रजापति के उपदेश को ही मेघ के गर्जन मे 'द द द' का उच्चारण कर के मानो दैवी वाणी आज भी दुहराती है कि 'दाम्यत'—इन्द्रियो का दमन करो, 'दत्त'—ससार की वस्तुओ का सग्रह न करते हुए दान दो, 'दयध्वम्'-प्राणि मात्र पर दया करो।
संसार की सम्पूर्ण शिक्षा इन तीन मे समा जाती है, इसलिए तीन की ही शिक्षा दो—दम, दान और दया।

१४२. व्याधिग्रस्त होने पर घबराने के स्थान मे यह समझना चाहिए कि यह व्याधि भी एक तप है—परम तप है। जो इस रहस्य को समझता है वह परम लोक को जीत लेता है।

१४३. सत्य बल मे प्रतिष्ठित है—अर्थात् सत्य मे ही बल होता है, असत्य में बल नही होता।

१४४. प्रात.काल उठ कर आदित्य को सम्बोधन करते हुए अपने सम्बन्ध में भावना करो कि–हे सूर्य ! तू दिशाओ मे अकेला कमल के समान खिल रहा है, मैं भी मनुष्यो मे एक कमल की भांति खिल जाऊँ।

१४५. स्त्री की श्री—अर्थात् शोभा इसी मे है कि वह धुले हुए वस्त्र के समान निर्मल एव पवित्र हो।

१४६. पुत्र ऐसा होना चाहिए, जिस के सम्बन्ध मे लोग कहें कि यह तो अपने पिता से भी आगे निकल गया, अपने पितामह से भी आगे निकल गया।

१४७ दुष्ट घोड़ो वाले रथ के घोड़ो को जैसे वश मे किया जाता है, वैसे ही जागृत साधक अप्रमत्त भाव से मन रूपी घोड़े को वश में करे।

'द द द' का उपदेश दिया, जिसका यथाक्रम अर्थ है–दम, दान और दया।

१४८ लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्व,
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठव च।
गन्ध. शुभो मूत्र-पुरीषमल्पं,
योगप्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति ॥

—श्वे० उ० २।१३

१४९ नवद्वारे पुरे देही, हंसो लेलायते वहिः।

—३।१८

१५०. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षु. स शृणोत्यकर्ण.।

—३।१९

१५१ क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या।

—५।१

१५२. वालाग्रशतभागस्य, शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीव. स विज्ञेयः, स चानन्त्याय कल्पते ॥

—५।९

१५३. नैव स्त्री न पुमानेष, न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीमादत्ते, तेन तेन स रक्ष्यते ॥

—५।१०

१५४. यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दु खस्यान्तो भविष्यति ॥

—६।२०

१४८. योग मे प्रवृत्ति करने का पहला फल यही होता है कि योगी का शरीर हलका हो जाता है, नीरोग हो जाता है, विषयो की लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, शरीर से सुगन्ध निकलने लगता है, और मल मूत्र अल्प हो जाता है।

१४९. देही—अर्थात् जिसने देह को ही सब कुछ मान रखा है, वह तो इस नौ द्वारो वाली नगरी (शरीर) मे रहता है। और जो हस है, अर्थात् नीर क्षीरविवेकी हंस की तरह जड चैतन्य का विवेक (भेदविज्ञान) पा गया है, वह देह के बन्धन से बाहर प्रकाशमान होता है।

१५०. वह परम चैतन्य बिना पाँवो के भी बड़ी शीघ्रता से चलता है, बिना हाथो के झट से पकड लेता है, बिना आँखो के देखता है, और बिना कानो के सुनता है।

१५१ अविद्या क्षर है, खर जाने वाली है, और विद्या अमृत है—अक्षर है, न खरने वाली है।

१५२. यदि बाल (केश) के अगले हिस्से के सौ भाग (खण्ड) किये जाएँ, उन सौ मे से भी फिर एक भाग के सौ भाग किये जाएँ, तो उतना सूक्ष्म जीव को समझना चाहिए, परन्तु इतना सूक्ष्म होते हुए भी वह अनन्त है, अनन्तशक्तिसपन्न है।

१५३. जीवात्मा न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसक है। ये सब लिंग शरीर के हैं, अत जिस जिस शरीर को यह आत्मा ग्रहण करता है, तदनुसार उसी लिंग से युक्त हो जाता है।

१५४. मनुष्य जब भी कभी चर्म से आकाश को लपेट सकेंगे, तभी परमचैतन्य आत्मदेव को जाने बिना भी दु:ख का अन्त हो सकेगा,—अर्थात् चमड़े से अनन्त आकाश का लपेटा जाना जैसे असम्भव है, वैसे ही आत्मा को जाने-पहचाने बिना दु ख से छुटकारा होना भी असंभव है।

[1]वाल्मीकि रामायण की सूक्तियां

१. अलंकारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा।

—बाल काण्ड *३३।७

२. क्षमा यश. क्षमा धर्म. क्षमाया विष्ठितं जगत्।

—३३।९

३. ब्रह्मन्! ब्रह्मबल दिव्यं क्षात्राच्च बलवत्तरम्।

—५४।१४

४. सत्यं दानं तपस्त्यागो, मित्रता शौचमार्जवम्।
विद्या च गुरुशुश्रूषा, ध्रुवाण्येतानि राघवे॥

—अयोध्या काण्ड १२।३०

५. यदा यदा हि कौशल्या दासीव च सखीव च।
भार्यावद् भगिनीवच्च, मातृवच्चोपतिष्ठति॥

—१२।६९

---

१. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा संपादित, भारतमुद्रणालय औंध (ई० स० १९४१) मे मुद्रित।

*अंक क्रमश. सर्ग और श्लोक के सूचक हैं।

वाल्मीकि रामायण की सूक्तियां

१. क्षमा ही स्त्रियो तथा पुरुषो का भूषण है।

२. क्षमा ही यश है, क्षमा ही धर्म है, क्षमा से ही चराचर जगत् स्थित है।

३. हे ब्रह्मन् ! क्षात्रबल से ब्रह्मबल अधिक दिव्य एव बलवान होता है।

४. (दशरथ कैकेयी से कहते है)—सत्य, दान, शीलता, तप, त्याग, मित्रता पवित्रता, सरलता, नम्रता, विद्या और गुरुजनो की सेवा—ये सब गुण राम मे ध्रुव रूप से विद्यमान हैं।

५. (रानी कौशल्या के सम्बन्ध में दशरथ की उक्ति) जब भी काम पडता है, कौशल्या दासी के समान, मित्रके समान, भार्या और बहन के समान, तथा माता के समान हर प्रकार की सेवा शुश्रूषा करने के लिए सदा उपस्थित रहती है।

६. सत्यमेकपदं ब्रह्म, सत्ये धर्म॰ प्रतिष्ठित॰ ।

—१४।७

७. नह्यतो धर्मचरणं, किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा, तस्य वा वचनक्रिया ॥

—१६।२२

८. विक्लवो वीर्यहीनो यः, स दैवमनुवर्तते ।
वीराः सभावितात्मानो, न दैव पर्युपासते ॥

—२३।१

९ दैवं पुरुषकारेण, य समर्थः प्रवाधितुम् ।
न दैवेन विपन्नार्थ, पुरुष सो ऽवसीदति ॥

—२

१० भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ।

—२४।२७

११ न हि निम्बात् स्रवेत् क्षौद्रम् ।

—३५।१७

१२ राम दशरथं विद्धि, मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवी विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥

—४०।६

१३. अविज्ञाय फलं यो हि, कर्मत्वेवानुधावति ।
स शोचेत्फलवेलायां, यथा किंशुकसेवक॰ ॥

—६३।६

१४ चित्तनाशाद् विपद्यन्ते, सर्वाण्येवेन्द्रियाणि हि ।
क्षीणस्नेहस्य दीपस्य, संरक्ता रश्मयो यथा ॥

—६४।७३

१५ नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।
मत्स्या इव जना नित्यं, भक्षयन्ति परस्परम् ॥

—६७।३१

६. सत्य ही एकमात्र ब्रह्म है, सत्य ही मे धर्म प्रतिष्ठित हैं।

७. (राम का कैकेयी से कथन) "पिता की सेवा और उनके वचनो का पालन करना, इस से बढ कर पुत्र के लिए और कोई धर्माचरण नहीं है।"

८. (लक्ष्मण का राम से कथन) जो कातर और निर्बल हैं, वे ही दैव (भाग्य) का आश्रय लेते हैं। वीर और आत्मनिष्ठ पुरुष दैव की ओर कभी नही देखते।

९. जो अपने पुरुषार्थ से दैव को प्रबाधित (मजबूर) कर देने मे समर्थ हैं, वे मनुष्य दैवी विपत्तियो से कभी अवसन्न (खिन्न, दुखित) नही होते हैं।

१०. पतिव्रता स्त्री एकमात्र पति की सेवा-शुश्रूषा से ही श्रेष्ठ स्वर्ग को प्राप्त कर लेती है।

११. नीम से कभी मधु (शहद) नही टपक सकता है।

१२ (राम के साथ वन मे जाते समय लक्ष्मण को सुमित्रा की शिक्षा) हे पुत्र! राम को दशरथ के तुल्य, सीता को मेरे (माता सुमित्रा) समान और वन को अयोध्या की तरह समझ कर आनन्दपूर्वक वन मे जाओ।

१३ जो व्यक्ति फल (परिणाम) का विचार किए बिना कर्म करने लग जाता है, वह फल के समय मे ऐसे ही पछताता है जैसे कि सुन्दर लाल-लाल फूलो को देख कर सुन्दर फलो की आकाक्षा से ढाक की सेवा करने वाला मूढ मनुष्य।

१४ चित्त के विमूढ़ हो जाने पर इन्द्रियाँ भी अपने कार्यो मे भ्रान्त हो जाती हैं, अर्थात् चित्त के नष्ट होने पर इन्द्रियां भी वैसे ही नष्ट हो जाती हैं जैसे कि स्नेह (तेल) के क्षीण होने पर दीपक की प्रकाशकिरणे।

१५. राजा के अर्थात् योग्य शासक के न होने पर राष्ट्र मे कोई किसी का अपना नही होता। सब लोग हमेशा एक दूसरे को खाने मे लगे रहते हैं, जैसे कि मछलिया परस्पर एक दूसरे को निगलती रहती हैं।

१६ सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥

—१०६।१६

१७. अत्येति रजनी या तु, सा न प्रतिनिवर्तते ।

—१०६।१६

१८. सहैव मृत्युर्व्रजति, सह मृत्युर्निषीदति ।

—१०६।२२

१६. एको हि जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ।

—१०६।३

२०. मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ।

—११०।३

२१. कुलीनमकुलीनं वा, वीर पुरुषमानिनम् ।
चारित्रमेव व्याख्याति, शुचिं वा यदि वाऽशुचिम् ॥

—११०।४

२२ सत्यमेवेश्वरो लोके, सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि, सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥

—११०।१३

२३. कर्मभूमिमिमां प्राप्य, कर्तव्यं कर्म यच्छुभम् ।

—११०।२८

२४ धर्मादर्थः प्रभवति, धर्मात् प्रभवते सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ॥

—अरण्य काण्ड ६।३०

२५. उद्वेजनीयो भूतानां, नृशंसः पापकर्मकृत् ।
त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोऽपि न तिष्ठति ॥

—२६।३

१६. जितने भी सचय (संग्रह) हैं, वे सब एक दिन क्षय हो जाते है, उत्थान पतन मे बदल जाते हैं। इसी प्रकार संयोग का अन्त वियोग मे और जीवन का अन्त मरण मे होता है।

१७. जो रात गुजर जाती है, वह फिर कभी लौट कर नही आती।

१८. मृत्यु मनुष्य के साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है, अर्थात् वह हर क्षण साथ लगी रहती है, पता नही, कब दबोच ले।

१९. प्राणी अकेला ही जन्म लेता है, और अन्त मे अकेला ही मर जाता है, अर्थात् कोई किसी का साथी नही है।

२० जो पुरुष मर्यादा एव चरित्र से हीन होते हैं, वे सज्जनो के समाज मे आदर नही पाते।

२१ कुलीन तथा अकुलीन, वीर तथा डरपोक, पवित्र तथा अपवित्र पुरुष अपने आचरण ही से जाना जाता है।

२२ ससार मे सत्य ही ईश्वर है, सत्य मे ही सदा धर्म रहता है, सत्य ही सब अच्छाइयो की जड है, सत्य से बढकर और कुछ नही है।

२३ मानवजीवनरूप इस कर्मभूमि को प्राप्त कर मनुष्य को शुभ कर्म ही करना चाहिए।

२४ धर्म से ही अर्थ (ऐश्वर्य) मिलता है, धर्म से ही सुख मिलता है, और धर्म से ही अन्य जो कुछ भी अच्छा है वह सब मिलता है। धर्म ही विश्व का एक मात्र सार है।

२५ लोगो को कष्ट देने वाला, क्रूरकर्मा पापाचारी शासक, चाहे त्रिभुवन का एकछत्र सम्राट ही क्यो न हो, वह अधिक काल तक टिक नही सकता।

२६ न चिरं पापकर्माण., क्रूरा लोकजुगुप्सिताः ।
ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति, शीर्णमूला इव द्रुमाः ॥

—२६

२७ यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः ।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः ॥

—५६।१६

२८. इदं शरीर नि.सज्ञ बन्ध वा घातयस्व वा ।
नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीवितं वा ऽपि राक्षस !

—५६।२७

२९ उत्साहो वलवानार्य, नास्त्युत्साहात्पर वलम् ।
सोत्साहस्य हि लोकेपु, न किंचिदपि दुर्लभम् ॥

—किष्किन्धा काण्ड १।१२२

३० उत्साहवन्त. पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु ।

—१।१२३

३१ नह्यबुद्धिगतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि ।

—२।१८

३२. नाऽहं जानामि केयूरे, ना ऽह जानामि कुण्डले ।
नूपुरेत्वभिजानामि, नित्य पादाभिवन्दनात् ॥

—६।२२

३३ ये शोकमनुवर्तन्ते, न तेषा विद्यते सुखम् ।

—७।१२

३४. व्यसने वार्थकृच्छ्रे, वा भये वा जीवितान्तगे ।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान्नावसीदति ॥

—८।६

२६ क्रूर, लोगो मे निन्दित, पापी मनुष्य ऐश्वर्य पाकर भी जड से कटे वृक्ष समान अधिक समय तक स्थिर नही रह सक्ते ।

२७ जब लोगो का दुर्दैव से प्रेरित विनाश होना होता है, तो वे काल के वश में होकर विपरीत कर्म करने लगते हैं ।

२८. (सीता की रावण के प्रति उक्ति)—हे राक्षस ! यह शरीर जड़ है, इसे चाहे बाधकर रख अथवा मार डाल ! मुझे इस शरीर एवं जीवन की रक्षा का मोह नही है, मुझे तो एकमात्र अपने धर्म की ही रक्षा करनी है।

२६. (सीता के अपहरण होने पर शोकाकुल हुए राम से लक्ष्मण ने कहा)—हे आर्य ! उत्साह ही बलवान है, उत्साह से बढकर दूसरा कोई बल नही है । उत्साही मनुष्य को इस लोक मे कुछ भी दुर्लभ नही है ।

३०. उत्साही पुरुष बडे से बडे जटिल कार्यो मे भी अवसन्न-दुःखित नही होते ।

३१. बुद्धिहीन राजा प्रजा पर ठीक तरह शासन नही कर सकता ।

३२. (राम ने सीता हरण के बाद सुग्रीव के द्वारा दिखाए गए सीता के आभूषणो को लक्ष्मण से पहचानने को कहा तो लक्ष्मण ने उत्तर दिया ।) मैं माता सीता के न केयूरो (बाजूबन्दो) को पहचान सकता हूँ और न कुण्डलो को । प्रतिदिन चरण छूने के कारण मैं केवल नूपुरो को पहचानता हूँ कि ये वही हैं ।

३३. जो व्यक्ति निरन्तर शोक करते रहते हैं, उन को कभी सुख नही होता ।

३४. सकट आने पर, धन का नाश होने पर, और प्राणान्तक भय आने पर जो व्यक्ति धैर्यपूर्वक अपनी बुद्धि से सोचकर कार्य करता है वही विनाश से बच सकता है ।

४८. न विषादे मन कार्यं विषादो दोषवत्तर· ।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥

—६४।६

४९ नेदृशानां मतिर्मन्दा भवत्यकलुषात्मनाम् ।

—८१।११६

५० क्रुद्ध· पाप न कुर्यात् क· क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि ।

—सुन्दर काण्ड ५५।४

५१ नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्य विद्यते क्वचित् ।

—५५।५

५२ सुलभा· पुरुषा राजन् ! सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ· ॥

—युद्ध काण्ड १६।२१

५३ न कथनात् सत्पुरुषा भवन्ति ।

—७१।५९

५४ कर्मणा सूचयात्मान न विकत्थितुमर्हसि ।
पौरुषेण तु यो युक्तः स तु शूर इति स्मृत· ॥

—७१।६०

५५ अनर्थेभ्यो न शक्नोति त्रातुं धर्मो निरर्थक· ।

—८३।१४

५६. दुर्बलो हतमर्यादो न सेव्य इति मे मति· ।

—८३।२६

५७. अधर्मसश्रितो धर्मो विनाशयति राघव ।

—८३।३०

५८ अर्थेन हि विमुक्तस्य पुरुषस्याल्पचेतस· ।
विच्छिद्यन्ते क्रिया सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥

—८३।३३

४८. मन को विषादग्रस्त न होने दो, इससे अनेक दोष पैदा होते है। विषाद-ग्रस्त मन पुरुष को वैसे ही नष्ट कर डालता है, जैसे क्रुद्ध हुआ सर्प अबोध बालक को।

४९ विशुद्ध हृदय वाले सज्जनो की बुद्धि कभी मन्द (कर्तव्यविमूढ) नही होती।

५०. क्रोध से उन्मत्त हुआ मनुष्य कौन-सा पाप नही कर डालता, वह अपने गुरुजनो की भी हत्या कर देता है।

५१. क्रोधी के सामने अकार्य (नही करने योग्य) और अवाच्य (नही बोलने योग्य) जैसा कुछ नही रहता। अर्थात् वह कुछ भी कर सकता है और बोल सकता है।

५२ (विभीषण का रावण के प्रति कथन) राजन्! ससार मे प्रिय वचन बोलने वाले तो बहुत मिलते हैं, किन्तु हितकारी (पथ्य) अप्रिय वचन कहने वाले और सुननेवाले दोनो ही मिलने दुर्लभ हैं।

५३. केवल बात बनाने से कोई बड़ा आदमी नही बन सकता।

५४. कर्म कर के अपना परिचय दो, न कि मु ह से बड़ाई हाक कर। जिसमे पौरुष है, वही वस्तुत. वीर कहा जाता है।

५५ जो धर्म मनुष्य को अनर्थो (कष्टो या विकारो) से रक्षा नही कर सकता, वह धर्म निरर्थक है।

५६. (लक्ष्मण का राम के प्रति कथन) दुर्बल एव मर्यादाहीन व्यक्ति का संग नही करना चाहिए।

५७. (लक्ष्मण ने राम से कहा) हे राघव! जो धर्म, अधर्म पर आधारित है वह मनुष्य को नष्ट कर देता है।

५८ धनहीन होने से मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और उसकी सब शुभ प्रवृत्तियाँ वैसे ही क्षीण होती जाती हैं जैसे ग्रीष्म काल मे छोटी नदियाँ।

३५ ज्येष्ठो भ्राता पिता वा ऽपि, यश्च विद्या प्रयच्छति ।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया, धर्मे च पथि वर्तिनः ॥

—१८।१३

३६. उपकारफल मित्रमपकारो ऽरिलक्षणम् ।

—८।२१

३७ भये सर्वे हि बिभ्यति ।

—८।३५

३८. दु खित. सुखितो वा ऽपि, सख्युर्नित्यं सखा गतिः ।

—८।४०

३९ न नृपा. कामवृत्तय. ।

—१७।३२

४०. प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यते रज. ।

—१८।३५

४१ शोच्य. शोचसि कं शोच्यम् ?

—२१।३

४२. न कालस्यास्ति बन्धुत्वम् ।

—२५।७

४३. कोपमार्येण यो हन्ति स वीर. पुरुषोत्तम. ।

—३१।६

४४. मिथ्या प्रतिज्ञा कुरुते, को नृशंसतरस्ततः ?

—३४।८

४५. गोघ्ने चैव सुरापे च, चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्‌भि कृतघ्ने नैव निष्कृति ॥

—३४।१२

४६. पानादर्थश्च कामश्च धर्मश्च परिहीयते ।

—३३।४६

४७ न देशकालौ हि यथार्थधर्मौ, अवेक्षते कामरतिर्मनुष्यः ।

—३३।५५

३५. बड़ा भाई, जन्म देने वाला जनक और विद्या देने वाला गुरु—धर्म मार्ग पर चलनेवाले इन तीनो को पिता ही समझना चाहिए।

३६. उपकार करना मित्र का लक्षण है, और अपकार करना शत्रु का लक्षण है।

३७. भय से प्राय सभी डरते है।

३८. दुखी हो या सुखी, मित्र की मित्र ही गति है।

३९. राजा को स्वेच्छाचारी नही होना चाहिए।

४०. जो अपने पाप का प्रायश्चित्त कर लेते हैं, उनके पाप शान्त (नष्ट) हो जाते हैं।

४१ जो स्वय शोचनीय स्थिति मे है, वह दूसरो का क्या सोच (चिन्ता) करेगा?

४२ काल (मृत्यु) किसी का बन्धु नही है।

४३. जो आर्य धर्म (विवेक) से क्रोध का नाश कर देता है, वही वीर है, वही वीरो मे श्रेष्ठ है।

४४ जो मनुष्य अपने मित्रो से मिथ्या प्रतिज्ञा (झूठा वादा) करता है, उससे अधिक क्रूर और कौन है?

४५. गोघातक, मदिरा पीनेवाले, चोर और व्रतभग करनेवाले की शुद्धि के लिए तो सत्पुरुषो ने प्रायश्चित बताये हैं, परन्तु कृतघ्न का कोई प्रायश्चित्त नही है।

४६. मद्यपान से धन, काम (गृहस्थ जीवन) एवं धर्म की हानि होती है।

४७. कामान्ध मनुष्य अपने देशकालोचित यथार्थ कर्तव्यो को नही देख पाता है।

५६. निर्गुणः स्वजनः श्रेयान्, यः परः पर एव सः ।

—८७।१५

६० परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम् ।
सुहृदामतिशंका च त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥

—८७।२४

६१. कार्याणां कर्मणा पारं यो गच्छति स बुद्धिमान् ।

—८८।१४

६२ न हि प्रतिज्ञां कुर्वन्ति वितथां सत्यवादिनः ।

१०१।५१

६३ मरणान्तानि वैराणि ।

—११०।२६

६४ शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत्पापमश्नुते ।

—१११।२६

६५. संतश्चारित्रभूषणाः ।

—११३।४२

६६. सप्राप्तमवमानं यस्तेजसा न प्रमार्जति ।
कस्तस्य पौरुषेणार्थो महताप्यल्पचेतसः ॥

—११५।६

६७ भगवन् ! प्राणिनां नित्यं नान्यत्र मरणाद् भयम् ।
नास्ति मृत्युसमः शत्रुरमरत्वमहं वृणे ॥

—उत्तरकाण्ड १०।१६

६८. नहि धर्माभिरक्तानां लोके किंचन दुर्लभम् ।

—१०।३३

६९. यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते ।

—४३।१९

७०. दण्डेन च प्रजां रक्ष मा च दण्डमकारणे ।

—७९।७

५९. स्वजन (अपना सार्थ) यदि निर्गुण है तब भी वह अच्छा है, क्योंकि वह अपना है। पर (पराया) तो आखिर पर ही होता है।

६० दूसरो का धन चुराना, परस्त्रियो की ओर ताकना और मित्रो के प्रति अविश्वास करना—ये तीनो दोष मानव को नष्ट करने वाले हैं।

६१ जो अपने कर्तव्यो को अन्त तक पार (पूरा) कर देता है, वही वास्तव मे बुद्धिमान् है।

६२. सत्यवादी लोग अपनी प्रतिज्ञा को कभी मिथ्या नही होने देते।

६३ वैर-विरोध जीते-जी तक रहते हैं।

६४ शुभ (सत्कर्म) करने वाला शुभ (शुभ फल) पाता है, और पाप करने वाला पाप (अशुभफल) पाता है।

६५. सच्चरित्र ही सन्तो का भूषण है।

६६ जो प्राप्त अपमान का अपने तेज द्वारा परिमार्जन नही करता, उसके चेतनाहीन महान् पौरुष का भी क्या अर्थ है ?

६७ (रावण की ब्रह्मा से याचना)—भगवन् ! प्राणियो को मृत्यु के समान दूसरा भय नही है, न ही ऐसा कोई दूसरा शत्रु है। अत मैं आपसे अमरत्व की याचना करता हूँ।"

६८ धर्म मे निष्ठा रखने वालो के लिए ससार मे कुछ भी दुर्लभ नही है।

६९ राजा जैसा आचरण करता है, प्रजा उसी का अनुसरण करती है।

७० (मनु ने अपने पुत्र ईक्ष्वाकु से कहा)—तू दण्ड द्वारा प्रजा की रक्षा कर, किंतु बिना कारण किसी को भी दण्ड मत दे।

[1]महाभारत की सूक्तियां

१. बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो, मामयं प्रहरिष्यति ।

—आदिपर्व *१।२६८

२ तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः,
स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः ।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्,
तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥

—१।२७५

३ नवनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य,
वाचि क्षुरो निहितस्तीक्ष्णधारः ।
तदुभयमेतद् विपरीतं क्षत्रियस्य,
वाङ् नवनीतं हृदय तीक्ष्णधारम् ॥

—३।१२३

४. अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वर. ।

—११।१३

---

१. गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित संस्करण ।
*अक क्रम से सर्ग और श्लोक के सूचक हैं ।

महाभारत की सूक्तियां

१. अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद अर्थात् शास्त्र डरते रहते हैं कि कहीं यह मूर्ख हम पर प्रहार न कर दे।

२. तप निर्मल है, शास्त्रो का अध्ययन भी निर्मल है, स्वाभाविक वेदोक्त विधि भी निर्मल है, और श्रमपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन भी निर्मल है। परन्तु ये ही सब यदि किसी का अनिष्ट करने के दुर्भाव से किए जाएँ, तो मलिन (पापमय) हो जाते है।

३ ब्राह्मण (सन्तजन) का हृदय मक्खन के समान कोमल और शीघ्र ही द्रवित—पिघलने वाला होता है। केवल उसकी वाणी ही पैनी धार वाले छुरे—जैसी होती है। किन्तु क्षत्रिय (राजनीतिज्ञ) के लिए ये दोनो ही बातें विपरीत है। उसकी वाणी तो मक्खन के समान कोमल होती है, परन्तु हृदय पैनी धार वाले छुरे के समान तीक्ष्ण होता है।

४ समस्त प्राणियो के लिए अहिंसा सब से उत्तम धर्म है।

पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी मे 'सर्ग' के स्थान मे अध्याय समझें।

५ भिन्नानामतुलो नाश क्षिप्रमेव प्रवर्त्तते ।

—आदि० १६।२०

६. अधर्मोत्तरता नाम कृत्स्नं व्यापादयेज्जगत् ।

—३७।२०

७. नोद्विग्नश्चरते धर्मं, नोद्विग्नश्चरते क्रियाम् ।

—४१।२८

८. क्षमावतामय लोक परश्चैव क्षमावताम् ।

—४२।६

९. योऽवमन्यात्मना ऽऽत्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
न तस्य देवा. श्रेयासो यस्यात्मा ऽपि न कारणम् ॥

—७४।३३

१०. अर्ध भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।

—७४।४१

११ मूर्खो हि जल्पतां पुंसा, श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
अशुभ वाक्यमादत्ते, पुरीषमिव शकरः ॥

—७४।९०

१२. प्राज्ञस्तु जल्पतां पुसां श्रुत्वा वाच. शुभाशुभाः ।
गुणवद् वाक्यमादत्ते हस. क्षीरमिवाम्भस. ॥

—७४।९१

१३. नास्ति सत्यसमो धर्मो, न सत्याद् विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतर किंचिदनृतादिह विद्यते ॥

—७४।१०५

१४ न जातु काम. कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

—७५।५०

५ जो लोग विभक्त होकर आपस मे फूट पैदा कर लेते हैं, उनका शीघ्र ही ऐसा विनाश होना है, जिसकी कही तुलना नही होती।

६ संकट से बचने के लिए उत्तरोत्तर अधर्म करते जाने की प्रवृत्ति सम्पूर्ण जगत् का नाश कर डालती है।

७. उद्विग्न पुरुष न धर्म का आचरण कर सकता है, और न किसी लौकिक कर्म का ही ठीक तरह सम्पादन कर सकता है।

८. जिनमे क्षमा है, उन्ही के लिए यह लोक और परलोक—दोनो कल्याण-कारक हैं।

९. जो स्वय अपनी आत्मा का तिरस्कार करके कुछ का कुछ समझता है और करता है, स्वयं का अपना आत्मा ही जिसका हित साधन नही कर सकता है, उसका देवता भी भला नही कर सकते।

१०. भार्या (धर्मपत्नी) पुरुष का आधा अग है। भार्या सबसे श्रेष्ठ मित्र है।

११. मूर्ख मनुष्य परस्पर वार्तालाप करने वाले दूसरे लोगो की भली-बुरी बाते सुनकर उनसे बुरी बातो को ही ग्रहण करता है, ठीक वैसे ही, जैसे सूअर अन्य अच्छी खाद्य वस्तुओ के होते हुए भी विष्ठा को ही अपना भोजन बनाता है।

१२. विद्वान् पुरुष दूसरे वक्ताओ के शुभाशुभ वचनो को सुनकर उनमे से अच्छी बातो को ही अपनाता है, ठीक वैसे ही, जैसे हस मिले हुए दुग्ध-जल मे से पानी को छोडकर दूध ग्रहण कर लेता है।

१३ सत्य के समान कोई धर्म नही है, सत्य से उत्तम कुछ भी नही है। और झूठ से बढ कर तीव्रतर पाप इस जगत मे दूसरा कोई नही है।

१४. विषयभोग की इच्छा विषयो का उपभोग करके कभी शान्त नही हो सकती। घी की आहुति डालने पर अधिकाधिक प्रज्वलित होने वाली आग की भाँति वह भी अधिकाधिक बढती ही जाती है।

१५. यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु कर्हिचित् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।

—आदि० ७५।५२

१६. यदाचायं न बिभेति, यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

—७५।५३

१७ पुमांसो ये हि निन्दन्ति वृत्तेनाभिजनेन च ।
न तेषु निवसेत् प्राज्ञः श्रेयोऽर्थी पापबुद्धिषु ॥

—७६।१०

१८. न हीदृशं संवनन, त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दया मैत्री च भूतेषु, दानं च मधरा च वाक् ॥

—८७।१२

१९. सन्त. प्रतिष्ठा हि सुखच्युतानाम् ।

—८८।१२

२० दु.खैर्न तप्येन्न सुखैः प्रहृष्येत्,
समेन वर्तेत सदैव धीरः ।

—८९।९

२१. तपश्च दानं च शमो दमश्च,
ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा ।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो,
द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुंसाम् ॥

—९०।२२

२२. दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं सम्प्रतिष्ठित. ।
तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते ॥

—१२२।२१

२३. न सख्यमजरं लोके हृदि तिष्ठति कस्य चित् ।
कालो ह्येनं विहरति क्रोधो वैनं हरत्युत ॥

—१३०।७

१५. जब मनुष्य मन, वाणी और कर्म द्वारा कभी किसी प्राणी के प्रति बुरा भाव नही करता, तब वह ब्रह्मत्वस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

१६ सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होने पर जब साधक न किसी से डरता है और न उससे ही दूसरे प्राणी डरते है, तथा जब वह न तो किसी से कुछ इच्छा करता है और न किसी से द्वेष ही रखता है, तब वह ब्रह्मत्व भाव को प्राप्त हो जाता है।

१७ जो पुरुष दूसरो के आचार व्यवहार और कुल की निन्दा करते हैं, उन पापपूर्ण विचार वाले मनुष्यो के सम्पर्क मे कल्याण की इच्छा रखने वाले विद्वान् पुरुष को नही रहना चाहिए।

१८. सभी प्राणियो के प्रति दया और मैत्री का व्यवहार, दान और सब के प्रति मधुर वाणी का प्रयोग—तीनो लोको मे इनके समान अन्य कोई वशीकरण नही है।

१९ सुख से वंचित निराश्रित लोगों के लिए सन्त ही एक मात्र श्रेष्ठ आश्रय स्थान हैं।

२०. दु.खो से सतप्त न हो और सुखो से हर्षित न हो। धीर पुरुष को सदा समभाव से ही रहना चाहिए।

२१ तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता और समस्त प्राणियी के प्रति दया —सन्तो ने स्वर्गलोग के ये सात महान् द्वार बतलाए हैं।

२२. यह संसार दैव और पुरुषार्थ पर प्रतिष्ठित-आधारित है। इनमे दैव तभी सफल होता है, जब समय पर उद्योग किया जाए।

२३ ससार मे किसी भी मनुष्य के हृदय मे मैत्री (स्नेहभावना) अमिट होकर नही रहती। एक तो समय और दूसरा क्रोध, मैत्री को नष्ट कर डालते हैं।

२४ ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम् ।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥

—आदि० १३०।१०

२५ प्राज्ञः शूरो बहूनां हि भवत्येको न संशयः ।

—१३१।३

२६ शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल ।

—१३६।११

२७. छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने सर्वे तज्जीविनो हताः ।
कथं नु शाखास्तिष्ठेरंश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥

—१३९।१७

२८. न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।

—१३९।७३

२९. नाच्छित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥

—१३९।७७

३०. भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥

—१३९।८२

३१. एतावान् पुरुषस्तात ! कृतं यस्मिन् न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्यो ऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ॥

—१५९।१४

३२. अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम् ।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम् ॥

—१५६।२४

३३ धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।

—१७४।४५

२४ जिन का धन (ऐश्वर्य) समान है, जिनकी विद्या एक-सी है, उन्ही मे विवाह और मैत्री का सम्बन्ध ठीक हो सकता है। एक दूसरे से ऊँचे-नीचे लोगो मे स्नेहसम्बन्ध कभी सफल नही हो सकते है।

२५ बहुतो मे कोई एक ही बुद्धिमान और शूरवीर होता है, इसमे सशय नही है।

२६. शूरवीरो और नदियो की उत्पत्ति के वास्तविक कारण को जान लेना बहुत कठिन है।

२७. यदि मूल आधार नष्ट हो जाए, तो उसके आश्रित रहने वाले सभी लोग स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं।
यदि वृक्ष की जड़ काट दी जाए, तो फिर उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती है।

२८ कष्ट सहे बिना—अर्थात् अपने को खतरे में डाले बिना मनुष्य कल्याण का दर्शन नही कर सकता।

२९ दूसरो को मर्मघाती चोट पहुँचाए बिना, अत्यन्त क्रूर कर्म किए बिना तथा मछलीमारो की भाँति बहुतो के प्राण लिए बिना, कोई भी बड़ी भारी सम्पत्ति अर्जित नही कर सकता।

३० जब तक अपने ऊपर भय (खतरा) न आए, तभी तक डरते हुए उसको टालने का प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु जब खतरा सामने आ ही जाए, तो फिर निडर होकर उसका यथोचित प्रतिकार करना चाहिए।

३१ जो अपने प्रति किये हुए उपकार को प्रत्युपकार किये बिना नष्ट नही होने देता है, वही वास्तविक असली पुरुष है।
और यही सबसे बड़ी मानवता है कि दूसरा मनुष्य उसके प्रति जितना उपकार करे, वह उससे भी अधिक उस मनुष्य का प्रत्युपकार करदे।

३२. धन की इच्छा सबसे बड़ा दु.ख है, किन्तु धन प्राप्त करने मे तो और भी अधिक दुःख है। और जिसकी प्राप्त धन मे आसक्ति होगई है, धन का वियोग होने पर उसके दुःख की तो कोई सीमा ही नही होती।

३३ क्षत्रिय बल तो नाममात्र का ही बल है, उसे धिक्कार है। ब्रह्मतेज-जनित बल ही वास्तविक बल है।

३४ यदा तु प्रतिषेद्धारं पापो न लभते क्वचित् ।
तिष्ठन्ति बहवो लोकास्तदा पापेषु कर्मसु ॥

—आदि० १७९।१०

३५ जानन्नपि च यः पापं शक्तिमान् न नियच्छति ।
ईशः सन् सोऽपि तेनैव कर्मणा सम्प्रयुज्यते ॥

—१७९।११

३६ को हि तत्रैव भुक्त्वान्नं भाजनं भेत्तुमर्हति ।
मन्यमानः कुले जातमात्मानं पुरुषं क्वचित् ॥

—२१९।२७

३७. ज्येष्ठश्चेन्न प्रजानाति कनीयान् किं करिष्यति ?

—२३१।४

३८. कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः ।
सुखानि चानुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥

—सभापर्व ५।१७

३९ दत्तभुक्तफलं धनम् ।

—५।११३

४०. शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।

—५।११३

४१. मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ?

—१६।२

४२. सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ?
गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ॥ —१६।११

४३. ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां, क्षत्रियाणां बलाधिकः ।

— ३८।१७

३४. जब अत्याचारी पापी मनुष्य को कही कोई रोकने वाला नहीं मिलता, तब बहुत बड़ी सख्या मे मनुष्य पाप करने लग जाते है।

३५. जो मनुष्य शक्तिमान् एव समर्थ होते हुए भी जान बूझ कर पापाचार को नही रोकता, वह भी उसी पापकर्म से लिप्त हो जाता है।

३६. अपने आप को कुलीन मानने वाला कौन ऐसा मनुष्य है, जो जिस वर्तन मे खाए, उसी मे छेद करे—अर्थात् अपने उपकारी का ही अपकार करे।

३७. यदि बड़ा ही आने वाले भय और उससे बचने का उपाय न जाने, तो फिर छोटा करेगा ही क्या ?

३८ (नारद ने युधिष्ठर जी से कहा कि) राजन् ! क्या तुम्हारा धन तुम्हारे परिवार, समाज और राष्ट्र के कार्यो के निर्वाह के लिए पूरा पड़ जाता है ? क्या धर्म मे तुम्हारा मन प्रसन्नतापूर्वक लगता है ? क्या तुम्हे और तुम्हारे राष्ट्र को इच्छानुसार सुख-भोग प्राप्त होते है ? क्या सत्कर्म मे लगे हुए तुम्हारे मन को कोई आघात या विक्षेप तो नही पहुँचता है ?

३९. धन का फल दान और भोग है।

४०. शास्त्र ज्ञान का फल है—शील और सदाचार।

४१ मन और आँखो के खो देने पर मनुष्य का जीवन कैसा शून्य हो जाता है ?

४२. जो निर्बल है, वह सर्वगुणसम्पन्न होकर भी क्या करेगा ? क्योकि सभी गुण पराक्रम के अगभूत बन कर ही रहते है।

४३ ब्राह्मणो मे वही पूजनीय समझा जाता है, जो ज्ञान मे बड़ा होता है। और क्षत्रियो मे वही पूजा के योग्य माना जाता है, जो बल मे सबसे अधिक होता है।

४४ यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुत. ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥

—सभा० ५५।१

४५. असन्तोष श्रियो मूलम् ।

—५५।११

४६. न व्याधयो नापि यम. प्राप्तु श्रेयः प्रतीक्षते ।
यावदेव भवेत् कल्पस्तावच्छ्रेय. समाचरेत् ॥

—५६।१०

४७. तपस्विनं वा परिपूर्णविद्य, भषन्ति हैवं श्वनरा. सदैव ।

—६६।६

४८. लोभो धर्मस्य नाशाय ।

—७१।३४

४९. शोकस्थानसहस्राणि—भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥

—वनपर्व २।१६

५०. मानसेन हि दु खेन शरीरमुपतप्यते ।
अय.पिण्डेन तप्तेन कुम्भसस्थमिवोदकम् ॥

—२।२५

५१ स्नेहमूलानि दु.खानि ।

—२।२८

५२. नाऽसाध्य मृदुना किंचित् ।

—२८।३१

५३. नादेशकाले किंचित् स्याद् देशकालौ प्रतीक्षताम् ।

—२८।३२

५४. क्षमा तेजस्विना तेज क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।

—२९।४०

४४. जिसके पास अपनी बुद्धि नही है, केवल रटन्त विद्या से बहुश्रुत होगया है, वह शास्त्र के मूल तात्पर्य को नही समझ सकता, ठीक उसी तरह, जैसे कलछी दाल के रस को नही जानती।

४५ असन्तोष ही लक्ष्मीप्राप्ति का मूल है।

४६. रोग और यम (मृत्यु) इस बात की प्रतीक्षा नही करते कि इसने श्रेय प्राप्त कर लिया है या नही। अतः जब तक अपने मे सामर्थ्य हो, बस, तभी तक अपने हित का साधन कर लेना चाहिए।

४७. तपस्वी साधक तथा विद्वानो को कुत्ते के समान स्वभाववाले मनुष्य ही सदा भूँका करते हैं।

४८. लोभ धर्म का नाशक होता है।

४९ भय और शोक के ससार मे सैंकडो-हजारो ही स्थान (कारण) हैं। परन्तु ये मूढ मनुष्यो को ही दिन-प्रति-दिन प्रभावित करते हैं, ज्ञानी पुरुषो को नही।

५०. मन मे दु.ख होने पर शरीर भी सन्तप्त होने लगता है, ठीक वैसे ही, जैसे कि तपाया हुआ लोहे का गोला डाल देने पर घडे मे रखा हुआ शीतल जल भी गर्म हो जाता है।

५१. आसक्ति ही दु.ख का मूल कारण है।

५२. मृदुता (कोमलता, नम्रता) से कुछ भी असाध्य नही है।

५३ अयोग्य देश तथा अनुपयुक्त काल मे कुछ भी प्रयोजन (कार्य) सिद्ध नही हो सकता, अत. कार्यसिद्धि के लिए उपयुक्त देश-काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

५४. क्षमा तेजस्वी पुरुषो का तेज है, क्षमा तपस्वियो का ब्रह्म है।

५५ सर्वे हि स्वं समुत्थानमुपजीवन्ति जन्तव. ।

—वन० ३२।७

५६. सत्य दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र ! स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

—१८१।२१

५७ सत्य दमः तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता ।
साधकानि सदा पुसां न जातिर्न कुलं नृप. ॥

—१८१ ४२

५८. प्रक्षीयते धनोद्रेको जनानामविजानताम् ।

—१९२।२८

५९ यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रति. ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ।।

—उद्योगपर्व ३३।१९

६०. क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति,
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासम्पृष्टो व्युपयुंक्ते परार्थे,
तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥

—३३।२२

६१. एक. सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
योऽसविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥

—३३।४१

६२. सत्य स्वर्गस्य सोपानम् ।

—३३।४७

६३. क्षमा गुणो ह्यशक्ताना, शक्तानां भूषणं क्षमा ।

—३३।४९

६४. शान्तिखड्गः करे यस्य, किं करिष्यति दुर्जनः ?

—३३।५०

५५. सभी प्राणी अपने पुरुषार्थ एवं प्रयत्न के द्वारा ही जीवन धारण करते हैं, जीवनयात्रा चलाते है।

५६. (नागराज के द्वारा ब्राह्मण की परिभाषा पूछने पर युधिष्ठर ने कहा—) हे नागराज ! जिसमे सत्य, दान, क्षमा, शील, क्रूरता का अभाव, तप और दया—ये सद्गुण दिखाई देते हो, वही ब्राह्मण कहा गया है ।

५७. (युधिष्ठर को सद्गुणो की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे नागराज ने कहा)— राजन् ! सत्य, इन्द्रियसयम, तप दान, अहिंसा और धर्मपरायणता—ये सद्गुण ही सदा मनुष्यो की सिद्धि के हेतु हैं, जाति और कुल नही ।

५८ ववेकहीन अज्ञानी मनुष्यो का ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है।

५९. सर्दी और गरमी, भय और अनुराग, सम्पत्ति और दरिद्रता जिस के प्रारब्ध कार्य मे विघ्न नही डालते, वही व्यक्ति पण्डित कहलाता है ।

६०. विद्वान् पुरुष किसी चालू विषय को देर तक सुनता है, किन्तु शीघ्र ही समझ लेता है । समझकर कर्तव्यबुद्धि से पुरुषार्थ मे प्रवृत्त होता है, किसी छिछली कामना से नही । विना पूछे दूसरे के विषय मे व्यर्थ कोई बात नही करता है । यह सब पण्डित की मुख्य पहिचान है ।

६१ जो अपने द्वारा भरण-पोषण के योग्य व्यक्तियो को उचित वितरण किए विना अकेला ही उत्तम भोजन करता है और अच्छे वस्त्र पहनता है, उससे वढ कर और कौन क्रूर होगा ?

६२. सत्य स्वर्ग का सोपान (सीढी) है ।

६३. क्षमा असमर्थ मनुष्यो का गुण है, तथा समर्थों का भूषण है ।

६४. जिसके हाथ मे शान्तिरूपी तलवार है, उसका दुष्ट पुरुष क्या करेंगे ?

*६५ द्वाविमौ पुरुषौ राजन् ! स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥

—उद्योग० ३३।५८

६६ षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥

—३३।७८

६७. अर्थागमो नित्यमरोगिता च,
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रो ऽर्थकरी च विद्या,
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥

—३३।८२

६८. अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति,
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च,
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ।

—३३।६६

६९ यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद् रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥

—३४।१६

७०. यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥

—३४।१७

७१ सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥

—३४।३९

---

*६५ से ७४ तक विदुरजी का धृतराष्ट्र को नीति उपदेश है ।

६५. (विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा—) राजन् ! ये दो प्रकार के पुरुष स्वर्ग के भी ऊपर स्थान पाते है—एक शक्तिशाली होने पर भी क्षमा करने वाला और दूसरा निर्धन होने पर भी दान देने वाला ।

६६. ऐश्वर्य एव उन्नति चाहने वाले पुरुषो को निद्रा, तन्द्रा (ऊँघना), भय, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता (जल्दी हो जाने वाले काम मे भी अधिक देर लगाने की आदत)—इन छह दुर्गुणो को त्याग देना चाहिए ।

६७ राजन् ! धन की प्राप्ति, नित्य नीरोग रहना, स्त्री का अनुकूल तथा प्रियवादिनी होना, पुत्र का आज्ञा के अन्दर रहना, तथा अर्थकरी (अभीष्ट प्रयोजन को सिद्ध करने वाली) विद्या—ये छह बाते इस मानव-लोक में सुखदायिनी होती हैं ।

६८. बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, अधिक न बोलना, शक्ति के अनुसार दान और कृतज्ञता—ये आठ गुण पुरुष की ख्याति बढाते ।

६९. जो समय पर स्वय पके हुए फलो को ग्रहण करता है, समय से पहले कच्चे फलो को नही, वह फलो से मधुर रस पाता है और भविष्य मे बीजो को बोकर पुनः फल प्राप्त करता है ।

७०. जैसे भौरा फूलो की रक्षा करता हुआ ही उनका मधु ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनो को कष्ट दिए बिना ही कर के रूप मे उनसे धन ग्रहण करे ।

७१. सत्य से धर्म की रक्षा होती है, योग से विद्या सुरक्षित रहती है, सफाई से सुन्दर रूप की रक्षा होती है और सदाचार से कुल की रक्षा होती है।

७२ विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मद. ।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥

—उद्योग० ३४।४४

७३. सर्वं शीलवता जितम् ।

—३४।४७

७४ रोहते सायकैर्विद्धं वन परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥

—३४।७८

७५. श्रीर्मङ्गलात्प्रभवति प्रागल्भ्यात्सम्प्रवर्धते ।
दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात्प्रतितिष्ठति ॥

—३५।५१

७६ न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा,
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति,
न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥

—३५·५८

७७ नष्टप्रज्ञ पापमेव नित्यमारभते पुन. ।

—३५।६२

७८ सुवर्णपुष्पां पृथिवी चिन्वन्ति पुरुषास्त्रय. ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

—३५।७४

७९. बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि

—३५।७५

८०. ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥

—३६।२५

८१. अकीर्ति विनयो हन्ति, हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

—३६।४२

७२. संसार मे तीन मद हैं—विद्या का मद, धन का मद और तीसरा ऊँचे कुल का मद। ये अहकारी पुरुषो के लिए तो मद हैं, परन्तु ये (विद्या, धन और कुलीनता) ही सज्जन पुरुषो के लिए दम के साधन है।

७३. शीलस्वभाव वाला व्यक्ति सब पर विजय पा लेता है।

७४. बाणो से बिंधा हुआ तथा फरसे से कटा हुआ वन (वृक्ष) तो फिर अकुरित हो सकता है, किन्तु कटु वचनो के द्वारा वाणी से किया गया भयानक घाव कभी नही भरता।

७५. शुभ कर्मो से लक्ष्मी की उत्पत्ति होती है, प्रगल्भता से वह बढती है, चतुरता से जड जमा लेती है, और सयम से सुरक्षित रहती है।

७६. जिस सभा मे बडे-बूढे नही, वह सभा नही, जो धर्म की बात न कहे, वे बडे-बूढे नही, जिसमे सत्य नही, वह धर्म नही, और जो कपट से युक्त हो, वह सत्य नही है।

७७. जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य सदा पाप ही करता है।

७८. शूर-वीर, विद्वान् और सेवाधर्म के ज्ञाता—ये तीन मनुष्य पृथ्वीरूप लता से ऐश्वर्यरूपी सुवर्ण पुष्पो का चयन करते हैं।

७९. बुद्धि से विचार कर किये हुए कर्म ही श्रेष्ठ होते हैं।

८०. ससार में व्यक्ति को जातिभाई ही तराते है और जाति-भाई ही डुबोते भी हैं। जो सदाचारी हैं, वे तो तराते हैं, और दुराचारी डुबो देते हैं।

८१. विनयभाव अपयश का नाश करता है, पराक्रम अनर्थ को दूर करता है, क्षमा सदा ही क्रोध का नाश करती है और सदाचार कुलक्षण का अन्त करता है।

८२ क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुन. ।

—शान्तिपर्व ८।५

८३. धनात्कुलं प्रभवति धनाद् धर्म. प्रवर्धते ।

—८।२२

८४. शारीरं मानस दु.खं योऽतीतमनुशोचति ।
दु.खेन लभते दुःख द्वावनर्थौ च विन्दति ॥

—१७।१०

८५. तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् !

—२१।२

८६. सुखं वा यदि वा दु.खं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥

—२५।२६

८७ ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः ।
त एव सुखमेधन्ते मध्यम. क्लिश्यते जनः ॥

—२५।२८

८८. जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत । —३५।४५

८९. अल्प हि सारभूयिष्ठं कर्मोदारमेव तत् ।
कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोऽस्त्यकर्मण. ॥

—७५।२९

९०. धर्ममूला. पुन. प्रजा. ।

—१३०।३५

९१. वैरं पचसमुत्थानं तच्च वुध्यन्ति पण्डिता. ।
स्त्रीकृतं वास्तुज वाग्जं ससापत्नापराधजम् ॥

—१३९।४२

९२. वुद्धिसजननो धर्म आचारश्च सतां सदा ।

—१४२।५

८२ कायर और आलसी व्यक्ति को राज्य (ऐश्वर्य) कैसे प्राप्त हो सकता है ?

८३. धन से कुल की प्रतिष्ठा बढती है और धन से ही धर्म की वृद्धि होती है।

८४. जो मनुष्य अतीत के बीते हुए शारीरिक अथवा मानसिक दु.खो के लिए बार-बार शोक करता है, वह एक दुःख से दूसरे दु.ख को प्राप्त होता है। उसे दो-दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं।

८५. मन मे सन्तोष का होना स्वर्ग की प्राप्ति से भी बढ कर है। सन्तोष ही सबसे बड़ा सुख है।

८६ सुख हो या दुःख, प्रिय हो या अप्रिय, जब भी जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए, अपने हृदय को उक्त द्वन्द्वो के समक्ष कभी पराजित न होने दें।

८७. ससार में जो अत्यन्त मूढ हैं, अथवा जो बुद्धि से परे पहुँच गये हैं, अर्थात् पूर्ण ज्ञानी हो गए हैं, वे ही सुखी होते हैं, बीच के लोग तो कष्ट ही उठाते हैं।

८८. जान-बूझ कर किया हुआ पाप बहुत भारी होता है।

८९ ऊपर से कोई काम देखने मे छोटा होने पर भी यदि उस मे सार अधिक हो तो वह महान् ही है। न करने की अपेक्षा कुछ करना अच्छा है, क्योकि कर्तव्य कर्म न करने वाले से बढ कर दूसरा कोई पापी नही है।

९०. धर्म प्रजा की जड़ (मूल) है।

९१. वैर पांच कारणो से हुआ करता है, इस बात को विद्वान् पुरुष अच्छी तरह जानते हैं—१ स्त्री के लिए, २ घर और जमीन के लिए, ३. कठोर वाणी के कारण, ४. जातिगत द्वेष के कारण, और ५ अपराध के कारण।

९२ धर्म और सत्पुरुषो का आचार-व्यवहार—ये बुद्धि से ही प्रकट होते हैं, जाने जाते है।

९३ उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति ।

—१५८।१५

९४. अहिंसको ज्ञानतृप्तः स ब्रह्मासनमर्हति ।

—१८६।६

९५ अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा ।
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ।।

—१८६।१८

९६. सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ?

—१८६।२१

९७ उपभोगास्तु दानेन, ब्रह्मचर्येण जीवितम् ।

—अनुशासन पर्व५७।१०

९८. म्रियते याचमानो वै न जातु म्रियते ददन् ।

—६०।५

९९. अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति ।

—६३।६

१००. अन्नं प्राणा नराणां हि सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।

—६३।२५

१०१ अमृतं वै गवां क्षीरमित्याह त्रिदशाधिप ।

—६६।४६

१०२ मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च ।
स्नाति यो मानसे तीर्थे तत्स्नानं तत्त्वदर्शिनः ।

—१०८।१३

९३. जो पुरुष उद्योगवीर है, वह कोरे वाग्वीर पुरुषो पर अपना अधिकार जमा लेता है ।

९४ जो अहिंसक है और ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, वही ब्रह्मा के आसन पर बैठने का अधिकारी होता है ।

९५ किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरता को त्याग देना, मन और इन्द्रियो को सयम मे रखना तथा सब के प्रति दया भाव रखना—इन्ही को धीर (ज्ञानी) पुरुषो ने तप माना है । केवल शरीर को सुखाना ही तप नही है ।

९६. सभी प्रकार की कुटिलता मृत्यु का स्थान है और सरलता परब्रह्म की प्राप्ति का स्थान है । मात्र इतना ही ज्ञान का विषय है । और सब तो प्रलापमात्र है, वह क्या काम आएगा ?

९७ दान से उपभोग और ब्रह्मचर्य से दीर्घायु प्राप्त होता है ।

९८. याचक मर जाता है, किन्तु दाता कभी नही मरता ।

९९. अन्न के समान न कोई दान हुआ है और न होगा ।

१००. अन्न ही मनुष्यो के प्राण हैं, अन्न मे ही सब प्रतिष्ठित है ।

१०१. देवराज इन्द्र ने कहा है कि गौओ का दूध अमृत है ।

१०२ जो प्रसन्न एवं शुद्ध मन से ब्रह्मज्ञान रूपी जल के द्वारा मानसतीर्थ मे स्नान करता है, उसका वह स्नान ही तत्त्वदर्शी ज्ञानी का स्नान माना गया है ।

भगवद्गीता की सूक्तियां

१. देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्, धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

—*२।१३

२. मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

—२।१४

३. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

—२।१६

४. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

—२।२२

५. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ —२।२३

---

*अंक क्रमशः अध्याय और श्लोक के सूचक हैं।

भगवद्गीता की सूक्तियां

१. जिस प्रकार देहधारी को इस देह मे वचपन के वाद जवानी और जवानी के बाद बुढापा आता है उसी प्रकार मृत्यु होनेपर देही (आत्मा) को एक देह के वाद दूसरा देह प्राप्त होता रहता है। अतः धीर (ज्ञानी) इस विषय मे मोह नही करते।

२. हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गर्मी और सुख-दु.ख के देने वाले ये इन्द्रिय और विषयो के संयोग उत्पत्ति-विनाश शील हैं, अनित्य हैं, इसलिए हे भारत ! तू इन सव को समभाव से सहन कर।

३. जो असत् है, उस का कभी भाव (अस्तित्व) नही होता, और जो सत् है; उसका कभी अभाव (अनस्तित्व) नही होता।

४. जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रो को छोड कर नये वस्त्रो को ग्रहण करता है, वैसे ही देही (जीवात्मा) पुराने शरीरो को छोड़ कर नये शरीरो को ग्रहण करता रहता है।

५. इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी गला सकता है, और न हवा सुखा सकती है।

६ जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर् ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

—२।२७

७. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

—२।४५

८. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

—२।४७

९ समत्वं योग उच्यते ।

—२।४८

१०. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

—२।५०

११. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

—२।५५

१२. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतराग-भय-क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

—२।५६

१३. यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

—२।५८

१४. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।

—२।५९

६. जिसने जन्म ग्रहण किया है, उसका मरण निश्चित है, तथा जिसका मरण है उसका जन्म निश्चित है। अतः जो अवश्यम्भावी है, अनिवार्य है, उस विषय मे सोच-फिक्र करना योग्य नही है।

७. हे अर्जुन! वेदो का तो सत्त्व, रजस्, तमस्--प्रकृति के इन तीन गुणो का ही विषय है, इसलिए तू तीनो गुणो की सीमा को लाँघ कर त्रिगुणातीत (शुद्ध ब्रह्म) होजा।

८. तेरा अधिकार मात्र कर्म करने मे ही है, कर्मफल मे कभी नही। अतः तू कर्म-फल के हेतु से कर्म करने वाला न हो। साथ ही तेरी अकर्म में —कर्म न करने मे भी आसक्ति न हो।

९. समत्व ही योग कहलाता है। अर्थात् हानि लाभ, सुख दु.ख आदि में समभाव रखना, विचलित न होना ही वास्तविक योग है।

१० समत्वबुद्धि से युक्त होने पर मनुष्य दोनो ही प्रकार के शुभाशुभ (पुण्य और पापरूप) कर्मो के बन्धन से छूट जाता है। इसलिए हे अर्जुन! तू समत्वरूप ज्ञानयोग मे लग जा, समभाव के साथ कुशल कर्मो मे कुशल होने का नाम ही योग है।

११. हे अर्जुन! जब साधक मन मे उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओ को त्याग देता है, और आत्मा से आत्मा मे ही सन्तुष्ट रहता है—अर्थात् अपने आप मे मगन रहता है, तो वह स्थितप्रज्ञ (स्थिरचित्त) कहलाता है।

१२. जो कभी दु.ख से उद्विग्न नही होता, सुख की कभी स्पृहा नही करता, और जो राग, भय एवं क्रोध से मुक्त है, वही ज्ञानी स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

१३. कछुआ सब ओर से अपने अगो को जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब साधक सासारिक विषयो से अपनी इन्द्रियो को सब प्रकार से समेट लेता है—हटा लेता है, तो उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो जाती है।

१४. निराहार रहने पर इन्द्रिय-दौर्बल्य के कारण साधक को विषयो के प्रति तात्कालिक पराङ्मुखता—उदासीनता तो प्राप्त हो जाती है, परन्तु उन विषयो का रस (राग, आसक्ति) नही छूटता है, वह अन्दर मे बना ही रहता है। वह रस तो रागद्वेष से विमुक्त परम चैतन्य के दर्शन से ही छूटता है।

१५. इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।

—२।६०

१६. ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधः प्रजायते ॥

—२।६२

१७. क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

—२।६३

१८. प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

—२।६५

१९. नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

—२।६६

२०. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

—२।६९

२१. विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

—२।७१

२२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

—३।५

१५. प्रमथन-स्वभाव वाली बलवान् इन्द्रियाँ कभी-कभी प्रयत्नशील साधक के मन को भी बलात् विषयो की ओर खीच ले जाती हैं।

१६. विषयो का चिन्तन करने वाले पुरुष का उन विषयो में संग (आसक्ति, राग) हो जाता है, संग से ही उन विषयो को पाने की कामना होती है, और कामना होने से ही (समय पर अभीष्ट विषयो की प्राप्ति न होने पर) क्रोध (क्षोभ) पैदा होता है।

१७. क्रोध से अत्यन्त मूढता पैदा होती है, मूढता से स्मृतिविभ्रम हो जाता है, स्मृतिविभ्रम से बुद्धि का नाश होता है। और बुद्धि का नाश होने पर यह मनुष्य नष्ट हो जाता है, अपनी उच्च स्थिति से गिर जाता है।

१८. चित्त प्रसन्न होने पर ही सब दुःखो का नाश होता है। चित्त प्रसन्न होने से ही बुद्धि प्रतिष्ठित अर्थात् स्थिर होती है।

१६. जो युक्त (योगाभ्यासी, विजितेन्द्रिय) नही है, उसे बुद्धि (ज्ञान) की प्राप्ति नही होती। अयुक्त (योग की साधना से रहित) व्यक्ति मैत्री, प्रमोद करुणा और माध्यस्थ्य भावनाओ से भी रहित होता है। जो भावनाओं से रहित होता है, उसे शान्ति नही मिलती। और जो अशान्त है; उसे सुख कैसे मिल सकता है ?

२०. सर्वसाधारण प्राणी जिसे रात समझते हैं और सोते रहते है, उस समय सयमी मनुष्य जागता रहता है। और जिस समय सामान्य मनुष्य जागते हैं, वह तत्त्वज्ञ साधक के लिए रात है।
अर्थात् ज्ञानी जिस सासारिक सुख को दु.ख कहते हैं, उसे ही अज्ञानी संसारी जीव सुख कहते हैं। और जिसे अज्ञानी जीव सुख कहते हैं, उसी सांसारिक सुख को ज्ञानी दु.ख कहते हैं।

२१. जो पुरुष सभी कामनाओ का परित्याग कर स्पृहारहित, ममतारहित तथा अहंकाररहित होकर जीवन व्यतीत करता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है।

२२. निश्चय से कोई भी व्यक्ति क्षणमात्र भी विना कर्म किये नही रहसकता।

२३ कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार. स उच्यते ॥

—३।६

२४. नियत कुरु कर्म त्व कर्म ज्यायो ह्यकर्मण. ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

—३।८

२५. परस्पर भावयन्त. श्रेय परमवाप्स्यथ ।

—३।११

२६. यज्ञशिष्टाशिन. सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै. ।
भुञ्जते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

—३।१३

२७. असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।

—३।१९

२८. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

—३।२१

२९. कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म य. ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त. कृत्स्नकर्मकृत् ॥

—४।१८

३०. यस्य सर्वे समारम्भा. कामसकल्पवर्जिता. ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु. पण्डितं बुधाः ॥

—४।१९

३१. यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
सम. सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥

—४।२२

३२ श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञ. परंतप !

—४।३३

२३. जो कर्मेन्द्रियो को तो कर्म करने मे रोक लेता है, किन्तु उनके विषयो का मन से स्मरण करता रहता है, उसका वह 'आचार' मिथ्याचार कहलाता है।

२४. तू शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म अवश्य कर, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना ही श्रेष्ठ है। बिना कर्म किए तो तेरी शरीर यात्रा भी नही चल सकती।

२५ नि:स्वार्थभाव से परस्पर एक दूसरे की उन्नति चाहने वाले, आदर सत्कार करने वाले ही परम कल्याण को प्राप्त होगे।

२६. जो यज्ञ से अर्थात् अपने न्याय-प्राप्त भोजन मे से दूसरो को यथोचित दान करने से अवशिष्ट (बचा हुआ) खाते है, वे श्रेष्ठपुरुष सब पापो से मुक्त हो जाते है। और जो केवल अपने लिए ही पकाते हैं, साथियो को दिए बिना अकेले ही खाते हैं, वे पापी लोग तो इस प्रकार कोरा पाप ही खाते है।

२७. अनासक्त रह कर कर्म करने वाला पुरुष परम पद को प्राप्त होता है।

२८. श्रेष्ठजन जो भी-जैसा भी आचरण करते हैं, इतर जन भी वैसा ही आचरण करते है। वे जिस बात को प्रामाणिक एवं उचित मानते हैं, दूसरे लोग उन्ही का अनुकरण करते है।

२९. जो मनुष्य कर्म मे अकर्म को और अकर्म मे कर्म को देखता है, वही मनुष्यो मे बुद्धिमान है, योगी है, और सब कुशल कर्मो का वास्तविक कर्ता है। [निष्काम कर्म वस्तुत. अकर्म ही है, सकाम अकर्म मूलत कर्म ही है।]

३० जिसके सभी विहित कर्तव्य कर्म काम-सकल्पो से रहित होते है, जिसके सभी सकाम कर्म ज्ञानाग्नि मे जल गए है, उस महान् आत्मा को ज्ञानी जन भी पण्डित कहते है।

३१ जो यथालाभ-सन्तोषी है, जो शीतोष्ण आदि द्वन्द्वो से विचलित नही होता, जो मत्सररहित है, हर्ष-शोक से रहित होने के कारण जिसके लिए सफला-विफलता दोनो बराबर हैं, वह कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नही बँधता।

३२. हे अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञो से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है।

३३. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर् भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन !
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

—४,३७

३४. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

—४।३८

३५ श्रद्धावाँल्लभते ज्ञान तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

—४।३९

३६. संशयात्मा विनश्यति ।

—४।४०

३७. न सुखं संशयात्मनः ।

—४।४०

३८. ज्ञेय. स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो ! सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥

—५।३

३९. न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु. ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

—५।१४

४०. अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।

—५।१५

४१. विद्या-विनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिन. ॥

—५।१८

४२. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मन॰ ।

—५।१९

३३. हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि समिधाओ (लकड़ियो) को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि सभी कर्मो को भस्म कर डालती है।

३४. इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नही है।

३५. ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धावान् होना आवश्यक है और उसके साथ इन्द्रियसंयमी भी। ज्ञान प्राप्त होने पर शीघ्र ही शान्ति की प्राप्ति होती है।

३६. सशयात्मा (सन्देहशील) व्यक्ति नष्ट हो जाता है, अपने परमार्थ लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है।

३७. संशयालु को कभी सुख नही मिलता।

३८. हे महाबाहो अर्जुन ! जो पुरुष न किसी से द्वेष रखता है, और न किसी तरह की आकांक्षा रखता है, उसे नित्य संन्यासी ही समझना चाहिए। क्योंकि रागद्वेषादि द्वन्द्वो से रहित पुरुष ही सुखपूर्वक ससार-बन्धन से छूट सकता है।

३९. ईश्वर न तो संसार के कर्तव्य का रचयिता है, न कर्मों का रचयिता है, और न वह कर्मफल के सयोग की ही रचना करता है। यह सब तो प्रकृति का अपना स्वभाव ही वर्त रहा है।

४०. अज्ञान से ज्ञान ढका रहता है, इसी से सब अज्ञानी प्राणी मोह को प्राप्त होते हैं।

४१. जो तत्त्वज्ञानी हैं, वे विद्या एव विनय से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल में सर्वत्र समदर्शी ही होते हैं, भेदबुद्धि नही रखते।

४२. जिनका मन समभाव मे स्थित है, उन्होने यहाँ जीते-जी ही संसार को जीत लिया है।

४३ उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

—६।५

४४ बन्धुरात्मा ऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

—६।६

४५ नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

—६।१६

४६ युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

—६।१७

४७ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

—६।२९

४८. आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन !
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

—६।३२

४९. असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

—६।३५

५० न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।

—६।४०

५१. अध्यात्मविद्या विद्यानाम् ।

—१०।३२

५२. निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव !

—११।५५

४३. अपने आप ही अपना उद्धार करो, अपने आप को नीचे न गिराओ, क्योंकि यह मनुष्य आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है ।

४४. जिसने अपने आप से अपने आपको जीत लिया है, उसका अपना आत्मा ही अपना बन्धु है ।

४५ हे अर्जुन ! जो बहुत अधिक खाता है या बिल्कुल नही खाता, जो बहुत सोता है या बिल्कुल नही सोता—सदा जागता रहता है, उसकी योग-साधना सिद्ध नही हो सकती ।

४६. जिस का आहार-विहार ठीक (अति से रहित, यथोचित) है, जिसकी चेष्टाएँ—क्रियाएँ ठीक हैं, जिसका सोना-जागना ठीक है, उसी को यह दु.खनाशक योग सिद्ध होता है ।

४७ अनन्त चैतन्य की व्यापक चेतना से युक्त योगी अपने आप को सब में तथा सब को अपने आप मे देखता है, वह सर्वत्र समदर्शी होता है ।

४८. हे अर्जुन ! अपने-जैसा ही सुख तथा दु.ख को जो सब प्राणियो मे समान भाव से देखता है अर्थात् अपने समान ही दूसरो के सुख दु ख की अनुभूति करता है, वही परमयोगी माना जाता है ।

४९ हे महाबाहो ! इस मे सन्देह नही कि मन बड़ा चचल है, इसका निग्रह कर सकना कठिन है । किन्तु हे कुन्तीपुत्र ! अभ्यास (एकाग्रता की सतत साधना) और वैराग्य (विषयो के प्रति विरक्ति) से यह वश मे आ जाता है ।

५०. हे तात ! शुभ कर्म करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नही होता ।

५१ विद्याओ मे अध्यात्म विद्या ही सर्वश्रेष्ठ है ।

५२. हे पाण्डव ! जो सभी प्राणियो के प्रति निर्वैर (वैर से रहित) है, वही मुझे प्राप्त कर सकता है ।

५३ यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य. ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर् मुक्तो यः स च मे प्रिय. ॥

—१२।१५

५४. निर्मानमोहा जितसगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता' सुखदुःखसंज्ञैर्
गच्छन्त्यमूढा. पदमव्ययं तत् ॥

—१५।५

५५. न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥

—१५।६

५६ त्रिविध नरकस्येदं द्वार नाशनमात्मन. ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥

—१६।२१

५७. सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

—१७।३

५८ अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहित च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

—१७।१५

५९ मन प्रसाद. सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥

—१७।१६

६०. सत्कार-मान-पूजार्थं तपो दंभेन चैव तत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्त राजसं चलमध्रुवम् ॥

—१७।१८

६१. मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तप. ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम् ॥

—१७।१९

५३ जो न किसी दूसरे प्राणी को उद्विग्न करता है और न स्वय ही किसी अन्य से उद्विग्न होता है, जो हर्ष-शोक से तथा भय और उद्वेग से मुक्त है, वह भक्त मुझ को प्रिय है।

५४. जिनका अहकार तथा मोह नष्ट हो गया है, जिन्होने आसक्ति को जीत लिया है, जो अध्यात्मभाव मे नित्य निरत हैं, जिन्होने काम भोगो को पूर्ण रूप से त्याग दिया है, जो सुख दु.ख आदि के सभी द्वन्द्वो से मुक्त हैं, वे अभ्रान्त ज्ञानीजन अवश्य ही अव्यय–अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं।

५५. वहाँ न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रमा का और न अग्नि का, जहाँ जाने के बाद फिर लौटना नही होता है, वही मेरा परम धाम है।

५६. काम, क्रोध तथा लोभ–ये तीनो नरक के द्वार है तथा आत्मा का विनाश करने वाले हैं, इसलिए इन तीनो को छोड देना चाहिए।

५७. हे अर्जुन! जैसा व्यक्ति होता है, वैसी ही उसकी श्रद्धा होती है। पुरुष वस्तुत. श्रद्धामय है, जो जैसी श्रद्धा करता है, वह वही (वैसा ही) हो जाता है।

५८. उद्वेग (अशान्ति) न करने वाला, प्रिय, हितकारी यथार्थ सत्य भाषण और स्वाध्याय का अभ्यास—ये सब वाणी के तप कहे जाते है।

५९ मन की प्रसन्नता, सौम्य भाव, मौन, आत्म-निग्रह तथा शुद्ध भावना— ये सब 'मानस' तप कहे जाते हैं।

६०. जो तप सत्कार, मान, और पूजा के लिए तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिए पाखण्ड भाव से किया जाता है, वह अनिश्चित तथा अस्थिर तप होता है, उसे 'राजस' तप कहते हैं।

६१. जो तप मूढतापूर्वक हठ से तथा मन, वचन और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह 'तामस' तप कहा जाता है।

६२. दातव्यमिति यद् दान दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद् दान सात्विक स्मृतम् ॥

—१७।२०

६३. यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिस्य वा पुन. ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दान राजसं स्मृतम् ॥

—१७।२१

६४. अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम् ॥

—१७।२२

६५. अश्रद्धया हुतं दत्त तपस्तप्त कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

—१७।२८

६६ स्वे स्वे कर्मण्यभिरत. ससिद्धि लभते नरः ।

—१८।४५

६७ सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।

—१८।४८

६८. ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

—१८।५४

६९. ईश्वरः सर्वभूताना हृद्-देशे ऽर्जुन तिष्ठति ।

—१८।६१

६२. जो दान कर्तव्य समझ कर एकमात्र 'दान के लिए दान' के भाव से ही दिया जाता है, तथा योग्य देश, काल तथा पात्र का विचार कर अनुपकारी (जिसने अपना कभी कोई उपकार न किया हो तथा भविष्य मे जिन से कभी उपकार की अपेक्षा न हो) को दिया जाता है, वह दान 'सात्त्विक दान' कहा जाता है ।

६३ जो दान क्लेशपूर्वक, बदले की आशा से, फल को दृष्टि मे रख कर दिया जाता है, वह दान 'राजस' दान कहलाता है ।

६४. जो दान विना सत्कार-सम्मान के अवज्ञापूर्वक, तथा विना देश काल का विचार किए कुपात्रो को दिया जाता है, वह दान 'तामस' दान कहलाता है ।

६५. हे अर्जुन ! विना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, एव तपा हुआ तप, और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है, वह सव 'असत्' कहलाता है । वह न तो इस लोक मे लाभदायक होता है, न मरने के बाद परलोक मे ।

६६. अपने-अपने उचित कर्म मे लगे रहने से ही मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है ।

६७. सभी कर्मों मे कुछ-न-कुछ दोष उसी प्रकार लगा रहता है, जैसे अग्नि के साथ धुआँ ।

६८. जो साधक ब्रह्मभूत—ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, वह सदा प्रसन्न रहता है । वह न कभी किसी तरह का सोच करता है, न आकाक्षा ।

६९. हे अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियो के हृदय में विराजता है ।

मनुस्मृति की सूक्तियां

१. तपः पर कृतयुगे त्रेताया ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर् दानमेकं कलौ युगे ॥

—१।८६*

२ बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः ।

—१।९६

३. आचार. परमो धर्मः ।

—१।१०८

४. विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभि ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥

—२।१

५. संकल्पमूल. कामो वै ।

—२।३

६. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्वं स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा ॥

—२।२०

---

*अंक क्रमश अध्याय एव श्लोक के सूचक है ।

मनुस्मृति की सूक्तियां

१ कृत युग में 'तप' मुख्य धर्म था, त्रेता में 'ज्ञान', द्वापर में यज्ञ और कलियुग में एकमात्र दान ही श्रेष्ठ धर्म है।

२ बुद्धिमानो मे मनुष्य सब से श्रेष्ठ है।

३. आचार ही प्रथम एवं श्रेष्ठ धर्म है।

४. रागद्वेष से रहित ज्ञानी सत्पुरुषो द्वारा जो आचरित है, तथा अपने नि.सदिग्ध अन्त.करण द्वारा अनुप्रेरित है, उसी को वास्तविक धर्म जानिए।

५. निश्चय ही काम का मूल संकल्प है।

६. इस आर्यदेश भारत मे जन्म लेने वाले अग्रजन्मा ब्राह्मण (सदाचारी विद्वान) के पास भूमण्डल के सभी मानव अपने-अपने योग्य चरित्र की शिक्षा ग्रहण करे।

७ नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् ।

—२।११०

८. अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि संप्रवर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

—२।१२१

९. वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद् यदुत्तरम् ॥

—२।१३६

१० उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

—२।१४५

११. अज्ञो भवति वै बालः ।

—२।१५३

१२. न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥

—२।१५६

१३ अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।

—२।१५९

१४ वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ।

—२।१५९

१५. नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि, न परद्रोहकर्मधी ।

—२।१६१

१६. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।

—२।१६२

१७. अवमन्ता विनश्यति ।

—२।१६३

७. विना पूछे किसी के बीच मे व्यर्थ नही बोलना चाहिए।

८. जो सदा वृद्धो (ज्ञानवृद्ध आदि गुरुजनो) का अभिवादन करता है तथा उनकी निकटता से सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारो निरन्तर बढते रहते हैं।

९. धन, बन्धु, आयु, कर्म एव विद्या—ये पांचो सम्मान के स्थान हैं। किंतु इनमे क्रमश एक से दूसरा स्थान उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माना गया है।

१०. दश उपाध्यायो से एक आचार्य मह'न है, सौ आचार्यों से एक पिता और हजार पिताओ से एक माता का गौरव अधिक है।

११. वस्तुत. अज्ञ (मूर्ख) ही बाल है, अल्पवयस्क नही।

१२. शिर के बाल पक जाने से ही कोई वृद्ध नही माना जाता है। जो युवावस्था मे भी विद्वान है उसे देवताओ ने स्थविर माना है।

१३. अहिंसा की भावना से अनुप्राणित रहकर ही प्राणियो पर अनुशासन करना चाहिए।

१४ धर्म की इच्छा करने वाले को चाहिए कि वह माधुर्य और स्नेह से युक्त वाणी का प्रयोग करे।

१५. साधक को कोई कितना ही क्यो न कष्ट दे, किन्तु वह विरोधी की हृदयवेधक किसी गुप्त मर्म को प्रकट न करे, और न दूसरो के द्रोह का ही कभी विचार करे।

१६. विद्वान् सम्मान को विष की तरह समझ कर सदा उससे डरता रहे।

१७. अपमान करने वाला अपने पाप से स्वय नष्ट हो जाता है।

१८. परीवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।

—२।२०१

१९. बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।

—२।२१५

२०. आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥

—२।२२६

२१. अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।

—२।२३८

२२. विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥

—२।२३९

२३. अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ।

—३।३

२४. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ।

—३।५६

२५. शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

—३।५७

२६. धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनात् ।

—३।१०६

२७. सुखार्थी संयतो भवेत् ।

—४।१२

२८. यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥

—४।२०

२९. नाऽधार्मिके वसेद् ग्रामे ।

—४।६०

१८. गुरुजनों का परिवाद करने वाला मर कर गधा होता है और निन्दा करने वाला कुत्ता।

१९. इन्द्रियसमूह बड़ा बलवान् होता है, अतः वह कभी-कभी विद्वान साधक को भी अपनी ओर खीच लेता है।

२०. आचार्य ब्रह्मा की प्रतिकृति है, पिता प्रजापति की, माता पृथिवी की तथा भ्राता तो साक्षात् अपनी ही प्रतिकृति है।

२१ चाडाल से भी श्रेष्ठ धर्म ग्रहण कर लेना चाहिए और योग्य स्त्री को नीच कुल से भी प्राप्त कर लेना चाहिए।

२२. विष से भी अमृत, बालक से भी सुभाषित, शत्रु से भी श्रेष्ठचरित्र एव अपवित्र स्थल से भी स्वर्ण ग्रहण कर लेना चाहिए।

२३. अपने शरीर के स्वास्थ्य को क्षति न पहुँचाते हुए धन का अर्जन करना चाहिए।

२४. जहाँ नारी की पूजा (सम्मान) होती है, वहाँ देवता (दिव्य ऋद्धि-सिद्धियाँ) निवास करते हैं।

२५ जिस कुल मे अपमान आदि के कारण कुलवधुए शोकाकुल रहती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

२६. अतिथिसत्कार से धन, यश, आयुष्य एवं स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

२७. सुख की इच्छा रखने वाले को संयम से रहना चाहिए।

२८. जैसे जैसे पुरुष शास्त्रो का गहरा अभ्यास करता जाता है, वैसे वैसे वह उनके रहस्यो को जानता जाता है और उसका ज्ञान उज्ज्वल एव प्रकाशमान होता जाता है।

२९. अधार्मिक ग्राम में निवास नही करना चाहिए।

३०. न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ।

—४।७०

३१. ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।

—४।९२

३२. सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातन· ॥

—४।१३८

३३. शुष्कवैरं विवाद च न कुर्यात्केनचित् सह।

—४।१३९

३४. सर्वं परवश दु·खं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदु·खयोः ॥

—४।१६०

३५. सर्वेषामेव दानाना ब्रह्मदानं विशिष्यते ।

—४।२३३

३६. योऽर्चित प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च ।
तावुभौ गच्छत· स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥

—४।२३५

३७. तपः क्षरति विस्मयात्....दानं च परिकीर्तनात् ।

—४।२३६

३८. एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ।

—४।२५८

३९. यावन्ति पशुरोमाणि तावत् कृत्वेह मारणम् ।
वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥

—५।३८

४०. मा स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिण· ॥

—५।५५

३०. जो कर्म यू ही तिनके तोडने आदि के रूप मे निष्फल अर्थात् उद्देश्यहीन हो, व्यर्थ हो, और जो भविष्य मे दुख.प्रद हो, वह कर्म कभी नही करना चाहिए।

३१. प्रातः काल ब्राह्ममुहूर्त में जाग कर धर्म और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए।

३२. सत्य और प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले, प्रिय भी यदि असत्य हो तो न बोले—यह सनातन (शाश्वत) धर्म है।

३३. शुष्क (निष्प्रयोजन) वैर और विवाद किसी के भी साथ नही करना चाहिए।

३४. "जो कर्म एव बात पराधीन है, पराये वशमे है, वह सब दुःख है, और जो अपने अधीन है, अपने वश मे है, वह सब सुख है।" यह सुख दु ख का सक्षिप्त लक्षण है।

३५ सब दानो में ज्ञान का दान ही श्रेष्ठ दान है।

३६. जो सत्कार-सम्मान के साथ दान देता है और जो सत्कार-सम्मान के साथ ही दान लेता है, दोनो ही स्वर्ग के अधिकारी है। इसके विपरीत जो अपमान के साथ दान देते और लेते हैं, वे मर कर नरक मे जाते हैं।

३७. अहंकार से तप क्षीण (नष्ट) हो जाता है, और इधर उधर कहने से दान क्षीण अर्थात् फलहीन हो जाता है।

३८. जो साधक निर्जन एकान्त प्रदेश मे एकाकी आत्मस्वरूप का चिन्तन करता है, वह परमश्रेय (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

३९. जो व्यक्ति निरर्थक (निरपराध) ही पशु की हत्या करता है, वह पशु के शरीर पर जितने रोम हैं, उतनी ही वार जन्म-जन्म मे प्रतिघात (मारण) को प्राप्त होता रहेगा, अर्थात् दूसरो के द्वारा मारा जाएगा।

४०. "मैं यहाँ पर जिसका मांस खाता हूँ, मुझको भी वह (मा—सः) पर लोक मे खायेगा।"—मनीषी विद्वान् मास की यह मौलिक परिभाषा (मांसत्व) बतलाते है।

४१ सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
यो ऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचि. ॥

—५।१०६

४२. क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांस. ।

—५।१०७

४३. अद्‌भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

—५।१०९

४४. सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।

—५।१५०

४५ दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥

—६।४६

४६. नावमन्येत कञ्चन ।

—६।४७

४७. अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।

—६।५७

४८ इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥

—६।६०

४९. न लिङ्गं धर्मकारणम् ।

—६।६६

५०. सम्यग्दर्शनसम्पन्न. कर्मभिर्न निबध्यते ।

—६।७४

४१. ससार के समस्त शौचो (शुद्धियो) मे अर्थशौच (न्याय से उपार्जित धन) ही श्रेष्ठ शौच (उत्कृष्ट शुद्धि) है। जो अर्थशौच से युक्त है, वही वस्तुतः शुद्ध हैं। मिट्टी और पानी की शुद्धि वस्तुत. कोई शुद्धि नहीं है।

४२. विद्वान् क्षमा से ही पवित्र-शुद्ध होते हैं।

४३ जल से शरीर शुद्ध होता है, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा तथा ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

४४. गृहवधू को सदा प्रसन्न एवं गृहकार्य मे दक्ष रहना चाहिए।

४५. दृष्टि से शोधन कर (छानकर) भूमि पर पैर रखना चाहिए, वस्त्र से शोधन कर जल पीना चाहिए, सत्य से शोधन कर वाणी बोलनी चाहिए तथा प्रत्येक कार्य को पहले मनन-चिन्तन से शोधन कर पश्चात् आचरण में लेना चाहिए।

४६ किसी का भी अपमान नही करना चाहिए।

४७. अलाभ (इच्छित वस्तु न मिलने पर) में शोकाकुल नही होना चाहिए और लाभ में अधिक फूल उठना नही चाहिए।

४८. इन्द्रियो के निग्रह से, रागद्वेष को विजय करने से और प्राणिमात्र के प्रति अहिंसक रहने से साधक अमृतत्व के योग्य होता है अर्थात् अमरता प्राप्त करता है।

४९. विभिन्न प्रकार की साम्प्रदायिक वेश-भूषा धर्म का हेतु नही है।

५०. सम्यग्दर्शन (आत्मसाक्षात्कार) से सम्पन्न साधक कर्म से बद्ध नही होता।

५१ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥

—६।६२

५२. दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।

—७।२२

५३. दण्डः शास्ति प्रजा· सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।

—७।१८

५४. जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ।

—७।४४

५५. व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।

—७।५३

५६. अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेष निक्षिपेत् ॥

—७।९९

५७. बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।

—७।१०५

५८ तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति समत· ।

—७।१४०

५९. क्षत्रियस्य परो धर्म· प्रजानामेव पालनम् ।

—७।१४४

६०. आपदर्थं धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।

—७।२१२

६१. आत्मान सततं रक्षेत् ।

—७।२१२

६२. धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

—८।१५

५१. धैर्य, क्षमा, दम (मन.संयम तथा तितिक्षा), अस्तेय, शौच (पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह, धी (तत्वज्ञान), विद्या (आत्मज्ञान), सत्य और अक्रोध—(क्रोध के हेतु होने पर भी क्रोध न करना)—ये दस धर्म के लक्षण हैं।

५२. मूलतः स्वभाव से विशुद्ध मनुष्य का मिलना कठिन है।

५३ दण्ड ही समग्र प्रजा का शासन एव संरक्षण करता है।

५४. जितेन्द्रिय शासक ही प्रजा को अपने वश मे कर सकता है।

५५. दुर्व्यसन एव मृत्यु—इन दोनो मे दुर्व्यसन ही अधिक कष्टप्रद है।

५६ अप्राप्त ऐश्वर्य को प्राप्त करने का सकल्प करे, प्राप्त ऐश्वर्य की प्रयत्न-पूर्वक रक्षा करे। सुरक्षित ऐश्वर्य को बढाते रहे तथा बढे हुए ऐश्वर्य को धर्म एवं राष्ट्र के लिए उचित रूप से अर्पित करें।

५७. बगुले के समान एकाग्रता से अपने प्राप्तव्य लक्ष्य का चिन्तन करना चाहिए तथा सिंह के समान साहस के साथ पराक्रम करना चाहिए।

५८. जो शासक आवश्यकतानुसार समय पर कठोर भी होता है एव मृदु भी, वही सब को मान्य होता है।

५९ प्रजा का पालन करना ही क्षत्रिय का सब से बडा धर्म है।

६०. आपत्ति निवारण के लिए धन सगृहीत करके रखना चाहिए। धर्मपत्नी की रक्षा के लिए समय पर धन का मोह भी त्याग देना चाहिए।

६१. मनुष्य को अपने आत्म-गौरव एव व्यक्तित्त्व की निरन्तर रक्षा करनी चाहिए।

६२ जो धर्म को नष्ट करता है, धर्म उसे नष्ट कर देता है, और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

६३. एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति य. ।
शरीरेण सम नाश सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥

—८।१७

६४. आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्र-वक्त्र-विकारैश्च गृह्यते ऽन्तर्गत मन· ॥

—८।२६

६५ सत्येन पूयते साक्षी धर्म सत्येन वर्धते ।

—८।८३

६६. आत्मैव ह्यात्मन· साक्षी गतिरात्मा तथात्मन ।

—८।८४

६७. न वृथा शपथं कुर्यात् ।

—८।१११

६८ यथैवात्मा तथा पुत्र· पुत्रेण दुहिता समा ।

—९।१३०

६९. राजा हि युगमुच्यते ।

—९।३०१

७०. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह· ।
एत सामासिकं धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु· ॥

—१०।६३

७१. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।

—१०।६५

७२. स्ववीर्य बलवत्तरम् ।

—११।३२

७३. कृत्वा पापं हि सतप्य तस्मात्पापात् प्रमुच्यते ।

—११।२३०

७४. तपोमूलमिद सर्वं दैवमानुपकं सुखम् ।

—११।२३५

६३. धर्म ही मनुष्य का एकमात्र वह सखा है, जो मृत्यु के बाद भी उसके साथ जाता है। अन्य सब कुछ तो शरीर के साथ यहां पर ही नष्ट हो जाता है।

६४ आकार (रोमाञ्चआदि) से, इंगित (इधर उधर देखने) से, गति, चेष्टा, वाणी एव नेत्र और मुख के बदलते हुए भावो से, मन मे रहे हुए विचारो का पता लग सकता है।

६५ सत्य से ही साक्षी (गवाह) पवित्र होता है। सत्य से ही धर्म की अभिवृद्धि होती है।

६६ कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय के लिए आत्मा ही आत्मा का साक्षी है, आत्मा ही आत्मा की गति है।

६७. हर किसी बात पर व्यर्थ ही शपथ नही खानी चाहिए।

६८ पिता के लिए पुत्र आत्म-तुल्य (अपने बराबर) होता है और पुत्री पुत्र-तुल्य (पुत्र के समान)।

६९. वस्तुतः राजा ही युग का निर्माता होता है।

७०. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शौच (पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह—सक्षेप मे धर्म का यह स्वरूप चारो ही वर्णों के लिए मनु ने कथन किया है।

७१. अच्छे आचरण से शूद्र ब्राह्मण हो सकता है और बुरे आचरण से ब्राह्मण शूद्र!

७२. अपना वीर्य (सामर्थ्य) ही सब से श्रेष्ठ बल है।

७३. कृत पाप के लिए सच्चे मन से पश्चात्ताप कर लेने से प्राणी पाप से छूट जाता है।

७४. मनुष्यो और देवताओ के सभी सुखो का मूल तप है।

७५. ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।

—११।२३६

७६. यद् दुस्तर यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥

—११।२३६

७७ सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतः ।

—१२।२६

७८. अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥

—१२।१०३

७९. आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।

—१२।११९

७५ ब्राह्मण का तप ज्ञान है, और क्षत्रिय का तप दुर्बल की रक्षा करना है।

७६ जो दुस्तर है, दुष्प्राप्य है (कठिनता से प्राप्त होने जैसा है), दुर्गम है, और दुष्कर है, वह सब तप से साधा जा सकता है। साधना क्षेत्र में तप एक दुर्लंघन शक्ति है, अर्थात् तप से सभी कठिनताओ पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

७७. ज्ञान सत्त्व गुण है, रागद्वेष रजोगुण है और अज्ञान तमोगुण है।

७८. अज्ञानी मूर्ख से शास्त्र पढने वाला श्रेष्ठ है, पढने वाले से शास्त्र को स्मृति मे धारण करने वाला, धारण करने वाले से शास्त्र के मर्म को समझने वाला ज्ञानी, और ज्ञानी से भी उस पर आचरण करनेवाला श्रेष्ठ है।

७९. आत्मा सर्वदेव स्वरूप है अर्थात् सभी दिव्य-शक्तियो का केन्द्र है। आत्मा में ही सब कुछ अवस्थित है।

सूक्ति कण

१. न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ।

—ऋग्वेद १।४१।६

२. सत्यं ततान सूर्यः ।

—१।१०५।१२

३. उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप,
प्रागात् तम आ ज्योतिरेति ।

—१।११३।१६

४. ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।

—४।२३।८

५. निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु ।

—५।२।६

६. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति,
यन्ति प्रमादमतन्द्रा ।

—८।२।१८

७. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते ।।

—९।११३।७

सूक्ति कण

१. कभी किसी की निन्दा नही करनी चाहिए।

२. सूर्य (तेजस्वी आत्मा) ही सत्य का प्रसार कर सकता है।

३ मनुष्यो, उठो। जीवनशक्ति का स्रोत प्राण सक्रिय हो गया है। अन्धकार चला गया है, आलोक आ गया है।

४. सत्य की वृद्धि पापो को नष्ट कर डालती है।

५ निन्दक लोग आखिर स्वयं ही निन्दित हो जाते हैं।

६ देवता सोम छानने वाले पुरुषार्थी को चाहते है, सोते रहने वाले आलसी को नही। आलस्य से मुक्त कर्मठ व्यक्ति ही जीवन का वास्तविक प्रमोद-आनन्द प्राप्त करते हैं।

७ जहाँ ज्योति निरन्तर रहती है, और जिस लोक मे सुख निरन्तर स्थित है, उस पवित्र, अमृत, अक्षुण्ण लोक मे मुझे स्थापित कीजिए।

८. अपानक्षासो बधिरा अहासत ।
ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः ॥

—९।७३।६

९. मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत ।

—१०।१८।२

१०. प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय ।

—१०।१८।३

११. आकूति: सत्या मनसो मे अस्तु ।

—१०।१२८।४

१२ उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुन: ।

—१०।१३७।१

१३. भद्रं वैवस्वते चक्षुः ।

—१०।१६४।२

१४. मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ।

अथर्ववेद १।१।२

१५. विद्वानुदयनं पथ: ।

—५।३०।७

१६. अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।

—५।३७।१७

१७. अहमस्मि यशस्तमः ।

—६।५८।३

१८. आरभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिम् ।

—७।२।१

१९. मधु जनिषीय मधु वंशिषीय ।

—९।१।१४

८. अन्धे और बहरे अर्थात् सत्य के दर्शन एवं श्रवण से रहित व्यक्ति ज्योति-पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं। दुष्कर्मी व्यक्ति सत्य के मार्ग को पार (तय) नही कर सकते।

९. आओ, मौत के निशान को मिटाते हुए आओ।

१०. आओ, आगे बढें, नाचें और हँसें।

११. मेरे मन की भावना पूर्ण हो।

१२. हे दिव्य आत्माओ! क्या हुआ यदि यह नीचे गिर गया है, तुम इसे फिर ऊँचा उठाओ, उन्नत करो।

१३. भलाई, मानो, सूर्य की आँख है।

१४ मेरा शास्त्राध्यन मुझ में खूब गहराई से प्रतिष्ठित होता रहे।

१५. अभ्युदय के मार्ग को पहचानने वाले बनो।

१६. यह लोक देवताओ को भी प्रिय है। यहाँ पराजय का क्या काम ?

१७. मैं (आत्मा) सब से बढ़ कर महिमा वाला हूँ।

१८. यह (जीवन) अमृत की लडी है। इसे अच्छी तरह मजबूती से पकडे रखो।

१९. मैं मधु (मिठास) को पैदा करूँ, मैं मधु को आगे बढाऊँ।

२०. यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि ।

—१२।१।५८

२१. सर्वमेव शमस्तु नः ।

—१६।६।२

२२. अयुतो ऽहं सर्वः ।

—१६।५१।१

२३. श्येन एव भूत्वा सुवर्गं लोकं पतति ।

—तैत्तिरीय संहिता ५।४।११।१

२४. सर्वस्य वा अहं मित्रमस्मि ।

—६।४।८।१

२५. अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।

—अध्यात्मोपनिषद् ११

२६. वासनाप्रक्षयो मोक्षः ।

—१२

२७. फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित् ।

—४६

२८ भारो विवेकिनः शास्त्रं, भारो ज्ञानं च रागिणः ।
अशान्तस्य मनो भारं, भारो ऽनात्मविदो वपुः ॥

—महोपनिषद् ३।१५

२९. पदं करोत्यलङ्घ्ये ऽपि तृप्ता ऽपि फलमीहते ।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥

—३।२३

३०. देहो ऽहमिति संकल्पो महत्संसार उच्यते ।

—तेजोबिन्दूपनिषद् ५।९

२०. मैं जो भी कुछ कहूँ, मधुर कहूँ।

२१. हम सब के लिए सभी कुछ शान्तिकारी हो।

२२. मैं पूर्ण रूप से अहीन हूँ।

२३. श्येन बन कर ही अर्थात् श्येन के समान अपने लक्ष्य के प्रति शीघ्र झपट्टा मार उडान करने वाला साधक ही स्वर्ग पर आरोहण कर सकता है।

२४ मैं सब प्राणिजगत् का मित्र हूँ।

२५. अहंकार की पकड़ से मुक्त मनुष्य ही आत्म स्वरूप को प्राप्त करता है।

२६ वासना का नाश ही मोक्ष है।

२७. प्रत्येक फल का उदय क्रियापूर्वक ही होता है, बिना क्रिया के कही भी कोई भी फल नही होता।

२८ विवेकी-ज्ञानी के लिए शास्त्र भार (बोझ) है, रागद्वेष से युक्त पुरुष के लिए ज्ञान (शास्त्रो का पाण्डित्य) भार है, अशान्त व्यक्ति के लिए मन भार है और आत्मज्ञान से हीन मनुष्य के लिए यह देह भी भार-स्वरूप है।

२९. यह तृष्णारूपी चंचल बंदरिया दुरूह स्थान में भी अपना पांव टिकाने को उद्यत है, तृप्त हो चुकने पर भी विभिन्न फलो की कामना करती है, और अधिक देर तक किसी एक स्थान पर ठहरती भी नही है।

३०. 'मैं देह हूँ' यह संकल्प ही सब से बड़ा संसार है।

३१ मन एव जगत्सर्वम् ।

—५।६८

३२ देहस्य पंच दोषा भवन्ति, काम-क्रोध-निःश्वास-भय-निद्राः ।
तन्निरासस्तु निःसंकल्प-क्षमा-लघ्वाहारा ऽप्रमादता-
तत्त्वसेवनम् ।

—मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् १।२

३३. येनासनं विजित जगत्त्रयं तेन विजितम् ।

—शाण्डिल्योपनिषद् ३।१२

३४ प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा ।

—नारदपरिव्राजकोपनिषद् ५।३०

३५. द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च ।

—पैङ्गल उपनिषद् ४।२५

३६. गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता ।
क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥

—ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १९

३७. घृतमिव पयसि निगूढं,
भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।
सततं मन्थयितव्यं,
मनसा मन्थानभूतेन ॥

—२०

३८. अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते ?

—याज्ञवल्क्योपनिषद् २९

३९ न क्षीणा वासना यावच्चित्त तावन्न शाम्यति ।

—अन्नपूर्णोपनिषद् ४।७९

४०. अन्तः सर्वपरित्यागी बहिः कुरु यथा ऽगतम् ।

—५।११६

३१. मन ही समग्र जगत् है ।

३२. काम, क्रोध, श्वास, भय और निद्रा—ये शरीर के पांच दोष हैं। संकल्परहितता, क्षमा, अल्पाहार, अप्रमत्तता और तत्वचिन्तन--ये उक्त दोषो को दूर करने के उपाय हैं।

३३ जिसने आसन जीत लिया, उसने तीनो लोक जीत लिए ।

३४ साधक के लिए प्रतिष्ठा सूकर के मल के समान है ।

३५. वन्ध और मोक्ष के कारण दो ही पद हैं—'मम'—'मेरापन' वन्ध का कारण है, और 'निर्मम'–'मेरा कुछ नहीं'–यह मोक्ष का कारण है।

३६ जिस प्रकार अलग-अलग रंग-रूप वालो गायो का दूध एक ही रंग का सफेद होता है, उसी प्रकार विभिन्न वेश एव क्रिया काण्ड वाले सप्रदायो का तत्वज्ञान दूध के समान एक जैसा ही कल्याणकारी होता है ।

३७. जिस तरह दूध में घृत (घी) निहित होता है, उसी तरह हर एक प्राणी के अन्दर चिन्मय व्रह्म स्थित है। जिस तरह दूध को मथने से घी प्राप्त किया जाता है, वैसे ही मनन-चिन्तन रूप मथानी से मन्थन कर चिन्मय (ज्ञान स्वरूप) व्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है ।

३८. यदि तू अपकार करने वाले पर क्रोध करता है, तो क्रोध पर ही क्रोध क्यो नही करता, जो सव से अधि अपकार करने वाला है ।

३९. जव तक वासना क्षीण नही होती, तव तक चित्त शान्त नही हो सकता ।

४० अन्दर मे सव का परित्याग करके वाहर मे जैसा उचित समझे, वैसा कर ।

४१ स्वस्वरूप स्वयं भुङ्क्ते, नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः ।

—पाशुपत उपनिषद् ४३

४२ यतो धर्मस्ततो जयः ।

—महाभारत शल्यपर्व ६३।६२

४३. नाऽसाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीक्ष्णतरो मृदुः ।

—म० भा० शान्तिपर्व १४०।६७

४४. दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू ।

—१४०।६८

४५. मृत्युनाऽभ्याहतो लोको जरया परिवारितः ।

—२७७।९

४६. उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः ।
चण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम् ॥

—२९७।३१

४७ वेदस्योपनिषत् सत्यं, सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम् ॥

—२९९।१३

४८ वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं,
विवित्सावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णा स्
तं मन्ये ऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥

—२९९।१४

४९ गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि,
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ।

—२९९।२०

५०. चत्वारि यस्य द्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमा ।
उपस्थमुदरं हस्तौ वाक् चतुर्थी स धर्मवित् ॥

—२९९।२८

४१ ब्रह्म अपने स्वस्वरूप का ही स्वयं उपभोग करता है, उसका भोज्य उससे पृथक् कुछ नही है ।

४२ जिस पक्ष मे धर्म होता है, उसी पक्ष की विजय होती है ।

४३ कोमल उपाय से कुछ भी असाध्य नही है, अत कोमल ही सब से अधिक तीक्ष्ण माना गया है ।

४४. बुद्धिमान की भुजाएँ बहुत बडी (लम्बी) होती हैं, (अत. वह दूर के कार्यों का भी सरलता से सम्पादन कर सकता है) ।

४५. मृत्यु सारे जगत को सब ओर मार रही है, बुढापे ने इसे घेर रखा है ।

४६ उपभोग के साधनो से वचित होने पर भी मनुष्य अपने आप को हीन न समझे । चाण्डाल की योनि मे भी यदि मनुष्य जन्म प्राप्त हो, तो भी वह मानवेतर प्राणियो की अपेक्षा सर्वथा उत्तम है ।

४७ वेदो के अध्ययन का सार है सत्यभाषण, सत्यभाषण का सार है इन्द्रिय-सयम और इन्द्रिय-सयम का सार (फल) है मोक्ष। यही सम्पूर्ण धर्मो, ऋषियो, एवं शास्त्रोका उपदेश है ।

४८. जो वाणी का वेग, मन और क्रोध का वेग, तृष्णा का वेग तथा उदर और जननेन्द्रिय का वेग—इन सब प्रचण्ड वेगो को सह लेता है, उसी को मैं ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) और मुनि (तत्त्वद्रष्टा) मानता हूँ ।

४९. तुम लोगो को मैं एक बहुत गुप्त बात बता रहा हूँ, सुनो, मनुष्य से बढ कर और कुछ भी श्रेष्ठ नही है ।

५०. हे देवोत्तमो ! जिस पुरुष के उपस्थ(जननेन्द्रिय), उदर, दोनो हाथ और वाणी—ये चारो द्वार सुरक्षित होते हैं, वही धर्मज्ञ है ।

५१ यादृशैः संनिवसति, यादृशाश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितु तादृग् भवति पूरुषः ॥

—२६६।३२

५२ प्राज्ञश्चैको वहुभिर्जोषमास्ते ।
प्राज्ञ एको बलवान् दुर्बलोऽपि ॥

—२६६।४२

५३. अभिगम्योत्तम दानमाहूतं च मध्यमम् ।
अधम याच्यमान स्यात् सेवादान च निष्फलम् ॥

—पराशरस्मृति १।२८

५४. कृत्वा पापं न गूहेत, गुह्यमान विवर्धते ।

—८।६

५५. युगरूपा हि ब्राह्मणाः ।

—११।४८

५६. अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह· ।
दानं दया दम क्षान्ति· सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥

—याज्ञवल्क्य स्मृति १।१२२

५७. न विद्यया केवलया तपसा वा ऽपि पात्रता ।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥

—१।२००

५८. न यमं यममित्याहुरात्मा वै यम उच्यते ।
आत्मा सयमितो येन तं यमः किं करिष्यति ?

—आपस्तम्बस्मृति १०।३

५९ सम्मानात् तपस· क्षय' ।

—१०।६

६०. मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतानि य· पश्यति स पश्यति ॥

—१०।११

५१. मनुष्य जैसे लोगो के साथ रहता है, जैसे मनुष्यो की उपासना करता है, और जैसा होना चाहता है, वैसा ही होजाता है।

५२ ज्ञानी वहुतो के साथ रह कर भी मौन रहता है, ज्ञानी अकेला दुर्बल होने पर भी वलवान है।

५३. जरूरतमन्द को स्वय पास जाकर देना उत्तम दान है, बुला कर देना मध्यम है, माँगने पर देना अधम है, और सेवा करा कर देना तो सर्वथा निष्फल एव व्यर्थ है।

५४. पाप कर्म हो जाने पर उमे छुपाना नही चाहिए, अपितु ज्ञानी के समक्ष आलोचना कर के प्रायश्चित्त लेना चाहिए, क्योकि छुपा हुआ पाप अधिकाधिक वढता ही जाता है, घटता नही है।

५५. ब्राह्मण (विद्वान्) युग के अनुरूप होते है, अर्थात् युगानुकूल आचरण करते हैं।

५६ अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), शौच (मानसिक पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया, दम (सयम) और क्षमा—ये जाति एव वर्ण के भेद भाव के विना सभी के लिए धर्म के साधन हैं।

५७. न केवल विद्या से और न केवल तप से पवित्रता प्राप्त होती है। जिसमे विद्या और तप दोनो ही हो, वही पात्र कहलाता है।

५८. यम यम नही है, आत्मा ही वस्तुत यम है। जिसने अपनी आत्मा को संयमित कर लिया है, उस का यम (यमराज) क्या करेगा ?

५९ सम्मान से तप का क्षय हो जाता है।

६० जो परस्त्रियो को माता के समान, परधन को लोप्ट (ढेले) के ममान, और सव प्राणियो को अपनी आत्मा के समान देखता है, वस्तुत. वही द्रष्टा है, देखने वाला है।

६१ आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।

—वशिष्ठ स्मृति ६।३

६२. योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया श्रुतम्।
विद्या विज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥

—६।२०

६३. दीर्घवैरमसूया च असत्य ब्रह्मदूषणम्।
पैशुन्य निर्दयत्व च जानीयाच्छूद्रलक्षणम्॥

—६।२३

६४. नास्ति मातृसमं दैवं, नास्ति पितृसमो गुरुः।

—औशनस स्मृति १।३६

६५. पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः।

—१।४८

६६ यद् ददाति यदश्नाति, तदेव धनिनो धनम्।

—व्यास स्मृति ४।१७

६७ हितप्रायोक्तिभिर्वक्ता, दाता सन्मानदानतः।

—४।६०

६८. अनभ्यासे विष शास्त्रं, अभ्यासे त्वमृतं भवेत्।

—विश्वामित्र स्मृति ३।१३

६९. कर्मणा ज्ञानमिश्रेण स्थिरप्रज्ञो भवेत्पुमान्।

—शाण्डिल्य स्मृति ४।२१२

७०. आप्तोपदेशः शब्दः।

—न्यायदर्शन १।१।७

७१ इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।

—१।१।१०

७२. चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।

—१।१।११

६१. आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।

६२. योग, तप, दम, दान, सत्य, शौच, दया, श्रुत, विद्या, विज्ञान और आस्तिक्य—ये ब्राह्मण के लक्षण हैं।

६३. दीर्घ काल तक वैर भाव रखना, असत्य, व्यभिचार, पैशुन्य (चुगली), निर्दयता—ये शूद्र के लक्षण हैं।

६४. माता के समान कोई देव नही है, पिता के समान कोई गुरु (शिक्षक) नही है।

६५. पति ही स्त्री का एकमात्र गुरु है, और अतिथि सब का गुरु है।

६६ जो दिया जाता है, और खा लिया जाता है, वही धन है।

६७. हितकारी प्रिय वचन बोलने वाला ही श्रेष्ठ वक्ता है, सम्मानपूर्वक देने वाला ही श्रेष्ठ दाता है।

६८. विना अभ्यास (स्वाध्याय) के शास्त्र विष हो जाता है, और अभ्यास करने पर वही अमृत बन जाता है।

६९. ज्ञानयुक्त कर्म से ही मनुष्य स्थितप्रज्ञ होता है।

७०. आप्त (यथार्थ ज्ञाता द्रष्टा और यथार्थ प्रवक्ता) के उपदेश को शब्द प्रमाण कहते हैं।

७१. इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख, ज्ञान—ये आत्मा के ज्ञापक लिंग (लक्षण) हैं।

७२. चेष्टा (क्रिया), इन्द्रिय और अर्थ (सुख-दुःखादि) का आश्रय शरीर है।

७३. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।

—१।१।१६

७४. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।

—१।१।२२

७५. समानप्रसवात्मिका जातिः ।

—२।२।७१

७६. वीतरागजन्मादर्शनात् ।

—३।१।२४

७७. तेषां मोहः पापीयान्, नामूढस्येतरोत्पत्तेः ।

—४।१।६

७८. दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहंकारनिवृत्तिः ।

—४।२।१

७९. दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ।

—४।२।२

८०. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

वैशेषिक दर्शन १।१।२

८१. कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ।

—२।१।२४

८२. दुष्टं हिंसायाम् ।

—६।१।७

८३. सुखाद् रागः ।

—६।२।१०

८४. असङ्गोऽयं पुरुषः ।

—सांख्यदर्शन १।१५

७३. श्रोत्र आदि इन्द्रियो के द्वारा शब्द आदि विषयो का ज्ञान युगपद् (एक समय मे एक साथ) नही होता, इस पर से मन का इन्द्रियो से पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है।

७४. दु.ख से सदा के लिए छुटकारा पा जाने को अपवर्ग (मोक्ष) कहते है।

७५. विभिन्न व्यक्तियो मे समान बुद्धि पैदा करने वाली जाति है।

७६ वीतराग के जन्म का अदर्शन है, अर्थात् रागद्वेष से रहित वीतराग आत्माओ का पुनर्जन्म नही होता।

७७. रागद्वेष की अपेक्षा मोह (मिथ्या ज्ञान, विचिकित्सा) अधिक अनर्थ का मूल है, क्योकि अमूढ (मोहरहित) आत्मा को रागद्वेष नही होता।

७८. दोष के निमित्त रूपादि विषयो के तत्त्वज्ञान (बन्धहेतुरूप वास्तविक स्वरूप के दर्शन) से अहकार निवृत्त हो जाता है।

७६. संकल्पकृत ही रूपादि विषय दोषो के निमित्त (कारण) होते हैं।

८०. जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और नि.श्रेयस् (आध्यात्मिक विकास, मुक्ति) की प्राप्ति हो, वह धर्म है।

८१. कारण के गुणो के अनुसार ही कार्य के गुण देखे जाते है।

८२. हिसा के कारण अच्छा-से-अच्छा साधक भी दुष्ट (मलिन) हो जाता है।

८३. सुखोपभोग से उत्तरोत्तर सुख एव सुख के साधनो के प्रति राग उत्पन्न होता है।

८४. यह पुरुष (आत्मा) मूलत असग है, निर्लिप्त है।

८५. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।

—१।६१

८६. नाऽवस्तुनो वस्तुसिद्धिः ।

—१।७८

८७. नाऽसदुत्पादो नृशृंगवत् ।

—१।११४

८८. नाश. कारणलय. ।

—१।१२१

८९. शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ।

—१।१३९

९०. नाऽन्धाऽदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ।

—१।१५६

९१. उभयात्मक मनः ।

—२।२६

९२. ज्ञानान्मुक्तिः ।

—३।२३

९३. वन्धो विपर्ययात् ।

—३।२४

९४. रागोपहतिर्ध्यानम् ।

—३।३०

९५. ध्यान निर्विषयं मनः ।

—६।२५

९६. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

—योगदर्शन १।२

९७ तदा द्रष्टु. स्वरूपेऽवस्थानम ।

८५. सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनो गुणो की साम्य अवस्था (समान स्थिति) का नाम प्रकृति है।

८६ अवस्तु—अभाव से वस्तुसिद्धि (भाव की उत्पत्ति) नही हो सकती।

८७. जो नरशृंग (मनुष्य के सिरपर सीग) की तरह असत् है, उस की उत्पत्ति नही होती।

८८. नाश का अर्थ है—कार्य का अपने उपादान कारण मे लय हो जाना।

८९. पुरुष (चैतन्य, आत्मा) शरीर आदि जड पदार्थों से सर्वतोभावेन पृथक् है।

९०. अन्धा मनुष्य देख नही पाता, इस तर्क पर से चक्षुष्मान् (सुआँखा) के दर्शन का अपलाप नही किया जा सकता।

९१. मन उभयात्मक है, अर्थात् श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रिय और हस्तपादादि कर्मेन्द्रिय—दोनो इन्द्रियो का संचालक है।

९२. ज्ञान से ही मुक्ति होती है।

९३. विपर्यय (अज्ञान, विपरीत ज्ञान) ही बन्ध का कारण है।

९४. विपयो के प्रति होने वाले राग भाव को दूर करने वाला एक मात्र ध्यान है।

९५. मन का विपयशून्य हो जाना ही—ध्यान है।

९६. चित्त की वृत्तियो का निरोध ही—योग है।

९७. चित्त वृत्तियो का निरोध होने पर द्रष्टा (आत्मा) अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है।

९८ अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

—१।१२

९९ क्लेश-कर्म-विपाकाऽऽशयैरपरामृष्ट. पुरुप-विशेष ईश्वर.।

—१।२४

१००. मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दु.ख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

—१।३३

१०१. तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग.।

—२।१

१०२. अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्य-शुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या।

—२।५

१०३. सुखानुशयी राग।

—२।७

१०४. दु.खानुशयी द्वेष।

—२।८

१०५. हेय दु खमनागतम्।

—२।१६

१०६. अहिंसा-सत्याऽस्तेय-ब्रह्मचर्या ऽपरिग्रहा यमाः।

—२।३०

१०७. जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्ना. सार्वभौमा महाव्रतम्[१]।

—२।३१

---

१. सभी धार्मिक व्यक्ति अहिंसा आदि का कुछ न कुछ अंशत. आचरण करते हैं, परन्तु योगी इनका पूर्ण रूप से आचरण करते है।

अमुक जाति के जीवो की हिंसा करूँगा. अन्य की नही, यह जाति से अवच्छिन्न-सीमित अहिंसा है। इसी प्रकार तीर्थ मे हिंसा न करना, देशावच्छिन्न

९८. अभ्यास (निरन्तर की साधना) और वैराग्य (विषयो के प्रति विरक्ति) के द्वारा चित्तवृत्तियो का निरोध होता है।

९९. अविद्या आदि क्लेश, शुभाशुभरूप कर्म, कर्मों का विपाक (फल) और आशय (विपाकानुरूप वासना)—इन सब के स्पर्श से रहित पुरुषविशेष ही ईश्वर है।

१००. सुखी, दुःखी, पुण्यवान् तथा अपुण्यवान् (पापात्मा) प्राणियो के प्रति यथाक्रम मैत्री, करुणा, मुदिता एव उपेक्षा की भावना करने पर चित्त प्रसन्न (निर्मल) होता है।

१०१ तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान (निष्काम भाव से ईश्वर की भक्ति, तल्लीनता)—यह तीन प्रकार का क्रियायोग है—अर्थात् कर्मप्रधान योगसाधना है।

१०२. अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म (जड) विषयो मे नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मस्वरूपता की ख्याति (प्रतीति) ही अविद्या (अज्ञान) है।

१०३. सुखानुशयी क्लेशवृत्ति राग है—अर्थात् सुख तथा सुख के साधनो मे आसक्ति, तृष्णा या लोभ का होना राग है।

१०४. दुःखानुशयी क्लेशवृत्ति द्वेष है—अर्थात् दुःख तथा दुःख के साधनो के प्रति क्षोभ एवं क्रोध का होना द्वेष है।

१०५. वस्तुत. अनागत (भविष्य मे होने वाला) दुःख ही हेय होता है।

१०६. अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच यम हैं।

१०७. जाति, देश, काल और समय से अनवच्छिन्न अर्थात् जाति आदि की सीमा से रहित सार्वभौम (सदा और सर्वत्र) होने पर ये ही अहिंसा आदि महाव्रत हो जाते हैं।

अहिंसा है। चतुर्दशी आदि पर्व तिथि मे हिंसा न करना, कालावच्छिन्न अहिंसा है। युद्ध मे ही हिंसा करना, अन्यत्र नही, यह क्षत्रियो की समयावच्छिन्न अर्थात् स्वोचित कर्तव्य की दृष्टि से सीमित अहिंसा है।

१०८ शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

—२।३२

१०९. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।

—२।३५

११०. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।

—२।३६

१११. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।

—२।३८

११२. सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।

—२।४२

११३. आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ।

—वेदान्तदर्शन २।१।२८

११४. नासतो ऽदृष्टत्वात् ।

—२।२।२६

११५. अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।

—३।४।५०

११६. न प्रतीके न हि सः ।

—४।१।४

११७. यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।

—४।१।११

११८. भोगेनत्वितरे क्षपयित्वा सपद्यते ।

—४।१।१९

१०८. शौच (देहशुद्धि एव चित्तशुद्धि), सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान—ये पांच नियम हैं।

१०९. अहिंसा की प्रतिष्ठा (पूर्ण स्थिति) होने पर उस के सान्निध्य मे सब प्राणी निर्वैर हो जाते है।

११०. सत्य की प्रतिष्ठा होने पर सत्यवादी का वचन क्रियाफलाश्रयत्वगुण से युक्त हो जाता है—अर्थात् सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति के वचन अमोघ होते हैं।

१११. ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर वीर्य (शक्ति, बल) का लाभ होता है।

११२. सन्तोष से अनुत्तम (सर्वोत्तम) सुख का लाभ होता है।

११३. आत्मा मे एक-से-एक विचित्र सृष्टियां है।

११४. असत् से कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती, क्यो कि ऐसा कभी कही देखा नही गया है।

११५ साधक अपने गुणो का बखान न करता हुआ बालक की भांति दंभ एवं अभिमान से मुक्त रहे, क्योकि निर्दम्भता एवं सरलभावना का ही ब्रह्म-विद्या से सम्बन्ध है।

११६ किसी बाह्य प्रतीक विशेष मे आत्म-भाव नही करना चाहिए, क्योकि वह प्रतीक वस्तुत. अपना अन्तरात्मा नही है।

११७ जहाँ भी चित्त की एकाग्रता सुगमता से हो सके, वही बैठ कर ध्यान का अभ्यास करना ठीक है, साधना के लिए किसी विशेष स्थान या दिशा आदि की कोई प्रतिबद्धता नही है।

११८. (सचित कर्म ज्ञान से भस्म हो जाते है, निष्काम भाव से कर्म करने के कारण क्रियमाण कर्मो का बन्ध नही होता) शेष शुभाशुभरूप प्रारब्ध कर्मो को उपभोग के द्वारा क्षय करके ज्ञानी साधक परमपद (ब्रह्मत्व भाव) को प्राप्त हो जाता है।

११९ चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।

—४।४।६

१२० उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥

योगवाशिष्ठ, वैराग्यप्रकरण १।७

१२१. कार्यमण्वपि काले तु कृतमेत्युपकारताम् ।
महानप्युपकारो ऽपि रिक्ततामेत्यकालतः ॥

—७।२६

१२२ श्वभ्रद्रुमा अद्यतना नराश्च ।

—२७।३८

१२३. द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ परस्परम् ।
य एव बलवांस्तत्र स एव जयति क्षणात् ॥

योग० मुमुक्षुप्रकरण ६।१०

१२४. प्राक्तन पौरुषं तद् वै दैवशब्देन कथ्यते ।

—६।३५

१२५. शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥

—९।३०

१२६. आपतन्ति प्रतिपदं यथाकालं दहन्ति च ।
दुःखचिन्ता नरं मूढं तृणमग्निशिखा इव ॥

—११।४०

१२७ मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥

—११।५९

११६. मुक्तात्मा केवल अपने चैतन्यमात्र स्वरूप में स्थित रहता है, क्योंकि उसका वास्तविक स्वरूप वैसा ही है—ऐसा आचार्य औडुलोमि कहते हैं।

१२०. जैसे आकाश मे दोनो ही परो से पक्षी उडते हैं, एक से नही, वैसे ही साधक को ज्ञान और कर्म दोनो से परम पद की प्राप्ति होती है ।

१२१. समय पर थोड़ा भी कार्य किया जाए तो वह बहुत अधिक उपकारक होता है। असमय मे बडा से बड़ा उपकार भी निष्फल चला जाता है ।

१२२. आजकल के मनुष्य गड्ढे के वृक्षो के समान हैं। (जिस प्रकार गहरे अन्धगर्त के वृक्ष की छाया, पत्र, पुष्प, फल आदि किसी के भी उपभोग मे न आने से व्यर्थ हैं, उसी प्रकार पामर मनुष्यो के विद्या, धन सम्पत्ति आदि भी किसी का उपकार न करने के कारण व्यर्थ हैं।)

१२३. पूर्वजन्म के और इस जन्म के कर्म (पुरुषार्थ) दो मेढो की भाँति परस्पर लड़ते है, उनमे जो बलवान् होता है, वही दूसरे को क्षण भर मे पछाड़ देता है।

१२४. पूर्वजन्म का पौरुष ही यहां इस जन्म में व्यक्ति का दैव कहलाता है।

१२५. शुभ और अशुभ मार्ग से बह रही वासनारूपी नदी को अपने पुरुषार्थ के द्वारा अशुभ मार्ग से हटाकर शुभ मार्ग में लगाना चाहिए।

१२६. अग्नि की ज्वालाएँ जैसे तृण (घास-फूस) को जला डालती हैं, वैसे ही मूढ पुरुष को पद-पद पर दु:ख चिन्ताएँ प्राप्त होती हैं, और उसे जला डालती हैं।

१२७. मोक्षद्वार के चार द्वारपाल बतलाए हैं—शम, विचार, सन्तोष और चौथा सज्जनसगम।

१२८ विवेकान्धो हि जात्यन्धः ।

—१४।४१

१२९. वरं कर्दमभेकत्वं, मलकीटकता वरम् ।
वरमन्धगुहाऽहित्वं, न नरस्याऽविचारिता ॥

—१४।४६

१३० आपत्संपदिवाऽऽभाति विद्वज्जनसमागमे ।

—१६।३

१३१. चित्तमेव नरो नाऽन्यद् ।

—योग० उपशमप्रकरण ४।२०

१३२. कृष्यन्ते पशवो रज्ज्वा मनसा मूढचेतसः ।

—१४।३६

१३३. कर्ता बहिरकर्ताऽन्तर्लोके विहर राघव !

—१८।२३

१३४. न मौर्ख्यादधिको लोके कश्चिदस्तीह दुःखदः ।

—२९।५७

१३५. अहमर्थो जगद्बीजम् ।

योग० निर्वाण प्रकरण, उत्तरार्ध ४।३६

१३६. यन्नास्ति तत्तु नास्त्येव ।

—१६।१९

१३७. अज्ञातार वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम् ।

—२१।१

१३८. अपुनर्जन्मने यः स्याद् बोधः स ज्ञानशब्दभाक् ।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥

—२२।४

१२८. जो पुरुष विवेकान्ध है, विवेकरूपी नेत्रो से हीन है, वह जन्मान्ध है।

१२९. कीचड़ मे मेंढक बनना अच्छा है, विष्ठा का कीडा बनना अच्छा है और अँधेरी गुफा में सांप होना भी अच्छा है, पर, मनुष्य का अविचारी होना अच्छा नही है।

१३०. विद्वान् पुरुषो का समागम होने पर आपत्ति भी संपत्ति की तरह मालूम होती है।

१३१ चित्त ही नर है, चित्त से अतिरिक्त नर अर्थात् मनुष्य कुछ नही है।

१३२. पशु रस्सी से खीचे जाते हैं और मूढ मनुष्य मन से खीचे जाते हैं।

१३३. (महर्षि वशिष्ठ ने रामचन्द्रजी से कहा—) हे राघव ! बाहर मे कर्ता और भीतर मे अकर्ता रहकर आप लोक मे विचरण कीजिए।

१३४. मूर्खता से बढकर अन्य कोई संसार मे दुःख देने वाला नही है।

१३५. अहकार ही इस ससार का बीज है।

१३६. जो नही है, वह सदा और सर्वथा नही ही है। अर्थात् असत् कभी सत् नही हो सकता।

१३७. (महर्षि वशिष्ठ ने रामचन्द्रजी से कहा है—) मैं अज्ञानी को अच्छा समझता हूँ, परन्तु ज्ञानबन्धुता[१] को अच्छा नही समझता।

१३८. जो बोध पुनर्जन्म से मुक्त होने के लिए है, वस्तुतः वही ज्ञान कहलाने के योग्य है। इस के अतिरिक्त जो शब्दज्ञान का चातुर्य है, वह केवल अन्न वस्त्र प्रदान करनेवाली एक शिल्पजीविका (कारीगर एवं मजदूर का धंधा) है, और कुछ नही।

---

१. ज्ञान योग के बहाने सत्कर्मों को त्यागकर विषयभोग मे लिप्त रहने वाला व्यक्ति ज्ञानबन्धु कहलाता है।

१३९ प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जित. ।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥

—२२।५

१४०. द्विविधो भवति प्रष्टा तत्त्वज्ञो ऽज्ञो ऽथवा ऽपि च ।
अज्ञस्याऽज्ञतया देयो ज्ञस्य तु ज्ञतयोत्तरः ॥

—२९।३२

१४१. नाकलङ्का च वागस्ति ।

—२९।३७

१४२. यन्मयो हि भवत्यङ्ग पुरुषो वक्ति तादृशम् ।

—२९।३७

१४३. हता नीरसनाथा स्त्री हता ऽसत्कारिणी च धी: ।

—६५।५

१४४. सा स्त्री या ऽनुगता भर्त्रा सा श्रीर्या ऽनुगता सता ।
सा धीर्या मधुरोदारा साधुता समदृष्टिता ॥

—६५।६

१४५. अन्यस्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ।

—६७।२८

१४६. विषाण्यमृततां यान्ति सन्तताभ्यासयोगत. ।

—६७।३३

१४७ यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
सो ऽवश्यं तमवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥

—१०३।२२

१४८. पाण्डित्य नाम तन्मौर्ख्यं यत्र नास्ति वितृष्णता ।

—१६४।३४

१४९. न तदस्तीह यत् त्याज्यं ज्ञस्योद्वेगकरं भवेत् ।

—१६६।३

१३९. जो व्यक्ति प्रारब्ध के प्रवाह में आए हुए कार्यों के लिए काम-संकल्प को छोड़कर सदा तत्पर रहता है, एवं आकाश के समान जिस का हृदय आवरणशून्य प्रकाशमान रहता है, वही पण्डित कहा जाता है।

१४०. प्रश्नकर्ता दो तरह के होते हैं—एक तो तत्त्वज्ञ (ज्ञानी) और दूसरे अज्ञानी। अज्ञानी प्रश्नकर्ता को अज्ञानी बनकर उत्तर देना होता है और ज्ञानी को ज्ञानी बनकर।

१४१. कोई भी वाणी निष्कलंक नही होती।

१४२. वक्ता जिस तरह का होता है, वह उसी तरह का कथन करता है।

१४३. जिस का पति नीरस (स्नेहशून्य) हो, उस स्त्री को विनष्ट ही समझना चाहिए। और जो बुद्धि संस्कारयुक्त न हो, वह भी नष्ट ही समझनी चाहिए।

१४४. वही स्त्री, स्त्री है जो पति से अनुगत हो, वही श्री, श्री है जो सज्जनों से अनुगत हो, वही बुद्धि, बुद्धि है जो मधुर एव उदार हो, तथा वही साधुता साधुता है जो समदृष्टि से युक्त हो।

१४५. किसी को नीम अच्छा लगता है तो किसी को मधु। (अपनी अपनी रुचि है, अपना अपना अभ्यास है।)

१४६. निरन्तर के (औषधिनिमित्तक) अभ्यास से विष भी अमृत बन जाता है।

१४७. जो जिस वस्तु को चाहता है, उसके लिए यत्न करता है। और यदि थक कर बीच मे ही अपना विचार न बदल दे तो उसे अवश्य प्राप्त भी कर लेता है।

१४८. वह विद्वत्ता केवल मूर्खता ही है, जिसमें विषयभोगो के प्रति वितृष्णता (विरक्ति) नही है।

१४९. जो ज्ञानी को उद्विग्न करने वाली हो, ऐसी कोई हेय वस्तु संसार में कही भी नही है।

१५०. भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ।

श्रीमद् भागवत ३।२६।२३

१५१. तुलयाम लवेनाऽपि न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

—४।३०।३४

१५२. तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या क्रिया ऽऽकृतिः ।

—६।४।४६

१५३. न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतो हि भिषक्तमः ।

—६।६।५०

१५४. यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

—७।१४।८

१५५. मृगोष्ट्रखरमर्काखु—सरीसृप्खगमक्षिका. ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ?

—७।१४।६

१५६. त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि ।
यथादेशं यथाकाल यावद्दैवोपपादितम् ॥

७।१४।१०

१५७. स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये ।

—७।१५।१४

१५८. सदा सन्तुष्टमनसः सर्वा. सुखमया दिशः ।
शर्करा-कण्टकादिभ्यो यथोपानत्पद. शिवम् ॥

—७।१५।१७

१५०. जो अन्य प्राणियो के साथ वैरभाव रखता है, उसके मन को कभी शान्ति नही मिल सकती।

१५१. भगवद् भक्तो के क्षणभर के संग के सामने हम स्वर्ग और मोक्ष को भी कुछ नही समझते, फिर मानवीय भोगो की तो बात ही क्या ?

१५२. (भगवान् विष्णु ने दक्ष प्रजापति से कहा-) ब्रह्मन् ! तप मेरा हृदय है, विद्या शरीर है और कर्म आकृति है।

१५३. रोगी के चाहने पर भी सद्वैद्य उसे कुपथ्य नही देता।

१५४. (नारद जी ने युधिष्ठिर से कहा-) मनुष्यो का अधिकार केवल उतने ही धन पर है, जितने से उदरपूर्ति की जासके, भूख मिट सके। जो इस से अधिक सम्पत्ति को अपनी मानता है, अपने अधिकार मे रखता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिए।

१५५. हरिन, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, सरीसृप (रेंग कर चलने वाले प्राणी सर्प आदि), पक्षी और मक्खी आदि को अपने पुत्र के समान ही समझना चाहिए। सही दृष्टि से देखा जाए तो उन में और पुत्रों में अन्तर ही कितना है ?

१५६. गृहस्थ को धर्म, अर्थ, काम-रूप त्रिवर्ग के लिए बहुत अधिक कष्ट नही करना चाहिए, अपितु देश, काल और प्रारब्ध के अनुसार जितना सध सके, प्राप्त हो सके, उसी मे सन्तोष करना चाहिए।

१५७. अपने-अपने स्वभाव एवं योग्यता के अनुकूल किया जाने वाला धर्म, भला किसे शान्ति नही देता ?

१५८. जैसे पैरो में जूता पहन कर चलने वाले को कंकड़ और काँटो से कोई कष्ट नही होता, सुख ही होता है, वैसे ही जिसके मन में सन्तोष है, उस को सर्वदा और सब कही सुख-ही-सुख है, दु:ख कही है ही नही।

१५९. न ह्यसत्यात् परो ऽधर्म, इति होवाच भूरियम् ।
सर्वं सोढुमल मन्ये, ऋतेऽलीकपरं नरम् ॥

—८।२०।४

१६०. साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।

—९।४।६८

१६१. न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्पराम्,
अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम्,
अन्त' स्थितो येन भवन्त्यदु.खाः ॥

—९।२१।१२

१६२. श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ।

—१०।४।४१

१६३. हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः,
साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते ।

—१०।८।३१

१६४. न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ।

—१०।२४।४

१६५. कर्मैव गुरुरीश्वरः ।

—१०।२४।१७

१६६. अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ।

—१०।२४।१८

१६७. रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः ।
प्रजास्तैरेव सिद्ध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ?

—१०।२४।२३

१६८. किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः ।
किं न देयं वदान्यानां क. परः समदर्शिनाम् ॥

—१०।७२।१९

१५६. पृथ्वी ने कहा है कि असत्य से बढ कर कोई अधर्म नही है। मैं सब कुछ सहने में समर्थ हूं, परन्तु झूठे मनुष्य का भार मुझ से नही सहा जाता।

१६०. (भगवान् विष्णु ने दुर्वासा ऋषि से कहा—) साधुजन मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी साधुजनो का हृदय मैं स्वय हूँ।

१६१. (राजा रन्तिदेव ने पीडित एवं बुभुक्षित प्रजा के कल्याण की कामना करते हुए कहा था—) मैं भगवान् से अष्ट सिद्धियो से युक्त स्वर्ग की श्रेष्ठ गति नही चाहता। और तो क्या, मैं मोक्ष की कामना भी नहीं करता। मैं तो केवल यही चाहता हूँ, कि मैं विश्व के समस्त प्राणियो के हृदय में स्थित हो जाऊँ और उनका सारा-का-सारा दुःख मैं ही सहन करलूँ, ताकि अन्य किसी भी प्राणी को दुःख न हो।

१६२. श्रद्धा, दया, तितिक्षा एव क्रतु—सत्कर्म भगवान् हरि के शरीर हैं साक्षात्।

१६३. हिंसक दुष्ट व्यक्ति को उसके स्वयं के पाप ही नष्ट कर डालते हैं, साधु पुरुष अपनी समता से ही सब खतरो से बच जाता है।

१६४. जो संत पुरुष सब को अपनी आत्मा के समान मानता है, उसके पास छिपाने जैसी कोई भी बात नही होती।

१६५. (श्री कृष्ण ने इन्द्र की पूजा करने के लिए तत्पर नन्द जी को कहा-) मनुष्य के लिए उसका अपना कर्म ही गुरु है, और ईश्वर है।

१६६. पिताजी! जिस के द्वारा मनुष्य की जीविका सुगमता से चलती है, वही उसका इष्ट देवता होता है।

१६७. प्रकृति के रजोगुण से प्रेरित होकर मेघगण सब कहीं जल बरसाते हैं। उसी से अन्न आदि उत्पन्न होते है और उन्ही अन्न आदि से सब जीवो की जीविका चलती है। इस मे भला इन्द्र का क्या लेना-देना है?

१६८. सहनशील तितिक्षु पुरुष क्या नही सह सकते? दुष्ट पुरुष बुरा-से-बुरा क्या नही कर सकते? और समदर्शी के लिए पराया कौन है?

१६९. आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठः।

—१०।८०।४०

१७०. जितं सर्वं जिते रसे।

—११।८।२१

१७१. यत्र यत्र मनो देही, धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वाऽपि, याति तत्तत्स्वरूपताम्॥

—११।९।२२

१७२. बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषा च संयमः।

—११।१८।२२

१७३. दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम्।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम्॥

—११।१९।३७

१७४. दक्षिणा ज्ञानसन्देशः।

—११।१९।३९

१७५. दुःखं कामसुखापेक्षा, पण्डितो बन्धमोक्षवित्।

—११।१९।४१

१७६. स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः।

—११।१९।४२

१७७. नरकस्तमउन्नाहः।

—११।१९।४३

१७८. दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो यो ऽजितेन्द्रियः।

—११।१९।४४

१७९. यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः।

—११।२१।१९

१६९. सभी प्राणियो को अपना आप (अपना जीवन एवं शरीर) सब से अधिक प्रिय होता है।

१७०. एक रस के जीत लेने पर सब कुछ जीता जा सकता है। अर्थात् यदि एक रसनेन्द्रिय को वश मे कर लिया, तो मानो सभी इन्द्रियां वश मे हो गयी।

१७१. कोई भी व्यक्ति स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से अपने मन को पूर्ण बुद्धि के साथ जहाँ भी कही केन्द्रित कर लेता है, तो उसे उसी वस्तु का स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

१७२. इन्द्रियों का विषयो के लिए विक्षिप्त होना—चंचल होना बन्धन है और उनको संयम मे रखना ही मोक्ष है।

१७३. किसी से द्रोह न करना, सब को अभय देना दान है। कामनाओ का त्याग करना ही तप है। अपनी वासनाओ पर विजय प्राप्त करना ही शूरता है। सर्वत्र समत्व का दर्शन ही सत्य है।

१७४. ज्ञान का उपदेश देना ही दक्षिणा है।

१७५. विषय भोगों की कामना ही दुःख है। जो बन्धन और मोक्ष का तत्त्व जानता है, वही पण्डित है।

१७६. सत्त्वगुण की वृद्धि ही स्वर्ग है।

१७७. तमोगुण की वृद्धि ही नरक है।

१७८. जिसके मन में असन्तोष है, अभाव का ही द्वन्द्व है, वही दरिद्र है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, वही कृपण है।

१७९. जिन-जिन दोषों से मनुष्य का चित्त उपरत होता है, उन सब के बन्धन से वह मुक्त हो जाता है।

१८०. गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

विष्णु पुराण २।३।२४

१८१. वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च ।
कोपाय च यतस्तस्माद् वस्तु वस्त्वात्मक कुतः ॥

—२।६।४५

१८२. मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः ।

—२।६।४७

१८३. समत्वमाराधनमच्युतस्य ।

—१।७।२०

१८४. परदार-परद्रव्य-परहिंसासु यो रतिम् ।
न करोति पुमान् भूप ! तोष्यते तेन केशवः ॥

—३।८।१४

१८५. अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै सुकृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

—३।११।६१

१८६. असंस्कृतान्नभुङ् मूत्रं, बालादिप्रथमं शकृत् ।

—३।११।७१

१८७. अदत्त्वा विषमश्नुते ।

—३।११।७२

१८८. योषितः साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः ?

—६।२।८

१८९. यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन यत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ ॥

—६।२।१५

१८०. स्वर्ग मे देवगण भी निरन्तर यही गान करते रहते हैं कि जो स्वर्ग, एवं अपवर्ग (मोक्ष) के मार्गस्वरूप भारतवर्ष मे देवभव से पुन. मानवभव मे जन्म लेते है, वे धन्य है। (अथवा-जो भारत मे मानव-जन्म लेते है, वे पुरुष हम देवताओ की अपेक्षा भी अधिक धन्य हैं, बड़भागी हैं।)

१८१. एक ही वस्तु सुख और दु.ख तथा ईर्ष्या और कोप का कारण हो जाती है, तो उसमे वस्तु का अपना मूल वस्तुत्व (नियत स्वभाव) ही कहाँ है ?

१८२. सुख-दुःख वस्तुतः मन के ही विकार हैं।

१८३. समत्व-भावना ही विष्णु भगवान की आराधना है, पूजा है।

१८४. हे राजन् ! जो पुरुष दूसरो की स्त्री, धन और हिंसा मे रुचि नही रखता है, उससे भगवान् विष्णु सदा ही सन्तुष्ट (प्रसन्न) रहते हैं।

१८५. जिसके घर से अतिथि निराश होकर लौट जाता है, उसे वह अपने पाप देकर उसके शुभ कर्मों को ले जाता है।

१८६. संस्कारहीन अन्न खानेवाला मूत्रपान करता है, तथा जो बालक-वृद्ध आदि से पहले खाता है, वह विष्ठाहारी है।

१८७. विना दान किये खाने वाला विषभोजी है।

१८८. (महर्षि व्यास ने कहा है-) स्त्रियाँ ही साधु हैं, वे ही धन्य हैं, उनसे अधिक धन्य और कौन है ?

१८९. तप, ब्रह्मचर्य आदि की साधना के द्वारा जो फल सत्ययुग मे दस वर्ष मे मिलता है, वह त्रेता मे एक वर्ष, द्वापर मे एक मास और कलियुग मे केवल एक दिन रात मे ही प्राप्त हो जाता है।

१९०. अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या चाऽस्वे स्वमिति वा मतिः।
संसारतरुसम्भूतिबीजमेतद् द्विधा मतम्॥
—६।७।११

१९१. स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमुपाधित्रितयं चितेः।
एतैर्विशिष्टो जीवः स्याद् वियुक्तः परमेश्वरः॥
अध्यात्मरामायण, अयोध्या काण्ड १।२३

१९२. अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः।
उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः,
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते॥
—३।६१

१९३. देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाऽहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥
—४।३३

१९४. अविद्या संसृतेर्हेतुर् विद्या तस्या निवर्तिका।
—४।३४

१९५ सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाऽभिमानः,
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥
—६।६

१९६ न मे भोगागमे वाञ्छा न मे भोगविवर्जने।
आगच्छत्वथमागच्छत्वभोगवशगो भवेत्॥
—६।१

१९७. सुखमध्ये स्थितं दुःखं दुःखमध्ये स्थितं सुखम्।
द्वयमन्योऽन्यसंयुक्तं प्रोच्यते जलपङ्कवत्॥
—६।१४

१६०. संसार-वृक्ष की बीजभूता यह अविद्या (अज्ञान) दो प्रकार की है—अनात्मा (आत्मा से भिन्न शरीर आदि जड़ पदार्थ) मे आत्मबुद्धि और जो अ-स्व है, शरीर आदि पर पदार्थ अपना नही है, उसे 'स्व' अर्थात् अपना मानना।

१६१. शुद्ध चेतन की स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन उपाधियां है। इन उपाधियो से युक्त होने से वह जीव कहलाता है और इनसे रहित होने से परमेश्वर कहा जाता है।

१६२. (राम ने कैकेयी से कहा) जो पुत्र पिता की आज्ञा के विना ही उनका अभीष्ट कार्य करता है, वह उत्तम है। जो पिता के कहने पर करता है, वह मध्यम होता है और जो कहने पर भी नही करता है, वह पुत्र तो विष्ठा के समान है।

१६३. 'मैं देह हूँ'—इस बुद्धि का नाम ही अविद्या है। और 'मैं देह नही, चेतन आत्मा हूँ'—इसी बुद्धि को विद्या कहते हैं।

१६४. अविद्या जन्म-मरणरूप संसार का कारण है, और विद्या उसको निवृत्त अर्थात् दूर करने वाली है।

१६५. (वनवास के लिए कैकेयी को दोषी ठहराने वाले निषादराज गुह को दिया गया लक्ष्मण जी का उपदेश) सुख और दुःख का देने वाला कोई और नही है। कोई अन्य सुख दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है। 'मैं ही करता हूँ'—यह मनुष्य का वृथा अभिमान है। क्योकि संसार के सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों की डोरी मे बँधे हुए हैं।

१६६. हमें न तो भोगो की प्राप्ति की इच्छा है और न उन्हे त्यागने की। भोग आएँ या न आएँ, हम भोगो के अधीन नही हैं।

१६७. सुख के भीतर दुःख और दुःख के भीतर सुख सर्वदा वर्तमान रहता है, ये दोनो ही जल और कीचड के समान परस्पर मिले हुए रहते हैं।

१९८. सर्वं ब्रह्मैव मे भाति क्व मित्रं क्व च मे रिपुः।

अ० रा० किष्किन्धा काण्ड १।८८

१९९. योगिनो नहि दुःख वा सुखं वाऽज्ञानसम्भवम्।

—९।४६

२००. अद्यैव कुरु यच्छ्रेयः मा त्वां कालोऽत्यगान् महान्।

महाभारत, शान्ति पर्व १५९।१

२०१. सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वेदत्।

—३२९।१३

२०२. धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।

म० भा० कर्ण पर्व ६९।५९

२०३. न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।

म० भा० अनुशासन पर्व ११३।८

२०४. शत्रोरपि गुणा ग्राह्या दोषा वाच्या गुरोरपि।

म० भा० विराट पर्व ५१।१५

२०५. श्वघ्नी कितवो भवति।

—निरुक्त ५।४

२०६. भूतं सिद्धं, भव्यं साध्यम्, भूत भव्यायोपदिश्यते, न भव्य भूताय।

यजुर्वेदीय उव्वट भाष्य १।१

२०७. न हि स्वयमप्रतिष्ठितोऽन्यस्य प्रतिष्ठां कर्तुं समर्थः।

—१।१७

२०८. संस्कारोज्ज्वलनार्थं हितं च पथ्यं च पुनः पुनरुपदिश्यमानं न दोषाय भवति।

—१।२१

२०९. वीरस्य कर्म वीर्यम्।

—२।८

१९८. मुझे सब कुछ ब्रह्मरूप ही भासता है, अतः ससार में मेरा कौन मित्र है और कौन शत्रु ? कोई नही।

१९९. आत्मज्ञानी योगी को किसी प्रकार का अज्ञानजन्य सुख दु.ख नही होता, मात्र प्रारब्ध कर्म-जन्य ही सुख दुःख होता है ।

२००. जो भी अच्छा काम करना है, वह आज ही कर लो, यह बहुमूल्य समय व्यर्थ न जाने दो ।

२०१. सत्य बोलना अच्छा है, और सत्य से भी अच्छा है—हितकारी बात बोलना ।

२०२. धारण करने के कारण ही धर्म 'धर्म' कहलाता है, धर्म प्रजा को धारण करता है ।

२०३. जो व्यवहार अपने साथ किए जाने पर प्रतिकूल मालूम देता हो, वह दूसरो के साथ भी नही करना चाहिए ।

२०४. शत्रु के भी गुण ग्रहण करने चाहिएँ और गुरु के भी दोष बताने में संकोच नही करना चाहिए ।

२०५. जुआरी श्वघ्नी होता है, क्योकि वह अपने ही 'स्व' अर्थात् ऐश्वर्य का नाश करता है ।

२०६. भूत सिद्ध है, और भविष्य साध्य है । भविष्य के लिए भूत का उपदेश किया जाता है, भूत के लिए भविष्य का नही ।

२०७. जो स्वयं अप्रतिष्ठित है, वह दूसरो को प्रतिष्ठित नही कर सकता ।

२०८. सस्कारो को उद्दीप्त करने के लिए हित और पथ्य का बार-बार उपदेश देने मे कोई दोष नही है ।

२०९ वीर पुरुष का कर्म ही वीर्य है ।

२१० भार्यापुत्रपौत्रादयो गृहा उच्यन्ते।

—२।३२

२११ कालातिक्रमो हि प्रत्यग्र कार्यरसं पिबति।

—३।२९

२१२ वाचाभिरतीतानागतवर्तमानविप्रकृष्टं ज्ञायते।

—४।२३

२१३. अनपराधी हि न बिभेति।

—६।१७

२१४. न ह्यदेवो देवान् तर्पयितुमलम्।

—७।१

२१५. आत्मैषां रथो भवति, आत्माऽश्वः, आत्माऽऽयुधम्।

—८।५३

२१६ मनसा हि मुक्तेः पन्था उपलभ्यते।

—११।३४

२१७. मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वती।

१३।३५

२१८ मनस्तावत् सर्वशास्त्रपरिज्ञानं कूप इवोत्स्यन्दति।

—१३।३५

२१९. योह्यन्तान् पाति स मध्य पात्येव।

—१७।६०

२२०. अश्लीलभाषणेन हि दुर्गन्धीनि मुखानि भवन्ति, पाप हेतुत्वात्।

—२३।३२

२२१. द्यूतादागतं कर्मण्य न भवति।

—३४।२१

२१०. भार्या, पुत्र, पौत्र आदि ही गृह कहलाते हैं।

२११. काल का अतिक्रमण अर्थात् विलम्ब कार्य के ताजा रस को पी जाता है—नष्ट कर देता है।

२१२. वाणी के द्वारा ही अतीत, अनागत, और वर्तमान के दूरस्थ रहस्यो का ज्ञान होता है।

२१३. जो अपराधी नही है, वह कभी डरता नही।

२१४. जो स्वयं देव नही हैं, वह कभी देवो को तृप्त (प्रसन्न) नही कर सकता।

२१५. अपने विकारो से युद्ध करने वाले साधको का आत्मा ही रथ है, और आत्मा ही अश्व है, आत्मा ही आयुध—शस्त्रास्त्र है।

११६. मन से ही मुक्ति का मार्ग प्राप्त होता है।

२१७. मन ज्ञान का सागर है, वाणी ज्ञान की सरिता है।

२१८. मनन सब शास्त्रो के परिज्ञान को कूप के समान उत्स्यन्दित (ऊपर की ओर प्रवाहित) करता है।

२१९. जो अन्तिम की रक्षा करता है, वह अवश्य ही मध्य की भी रक्षा करता है।

२२०. पाप का हेतु होने के कारण अश्लील भाषण से प्रवक्ता का मुख दुर्गन्धित हो जाता है।

२२१. जुए से प्राप्त धन सत्कर्म के विनियोग में उपयुक्त नही होता।

२१० भार्यापुत्रपौत्रादयो गृहा उच्यन्ते ।

—२।३२

२११. कालातिक्रमो हि प्रत्यग्र कार्यरसं पिवति ।

—३।२६

२१२ वाचाभिरतीतानागतवर्तमानविप्रकृष्टं ज्ञायते ।

—४।२३

२१३. अनपराधी हि न विभेति ।

—६।१७

२१४. न ह्यदेवो देवान् तर्प्पयितुमलम् ।

—७।१

२१५. आत्मैषां रथो भवति, आत्माऽश्व:, आत्माऽऽयुधम् ।

—८।५३

२१६. मनसा हि मुक्तेः पन्था उपलभ्यते ।

—११।३४

२१७. मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वती ।

१३।३५

२१८. मनस्तावत् सर्वशास्त्रपरिज्ञानं कूप इवोत्स्यन्दति ।

—१३।३५

२१९. योह्यन्तान् पाति स मध्य पात्येव ।

—१७।६०

२२०. अश्लीलभाषणेन हि दुर्गन्धीनि मुखानि भवन्ति, पाप हेतुत्वात् ।

—२३।३२

२२१. द्यूतादागतं कर्मण्य न भवति ।

—३४।२९

२१०. भार्या, पुत्र, पौत्र आदि ही गृह कहलाते हैं।

२११. काल का अतिक्रमण अर्थात् विलम्ब कार्य के ताजा रस को पी जाता है—नष्ट कर देता है।

२१२. वाणी के द्वारा ही अतीत, अनागत, और वर्तमान के दूरस्थ रहस्यो का ज्ञान होता है।

२१३. जो अपराधी नही है, वह कभी डरता नही।

२१४. जो स्वयं देव नही है, वह कभी देवो को तृप्त (प्रसन्न) नही कर सकता।

२१५. अपने विकारो से युद्ध करने वाले साधको का आत्मा ही रथ है, और आत्मा ही अश्व है, आत्मा ही आयुध—शस्त्रास्त्र है।

११६. मन से ही मुक्ति का मार्ग प्राप्त होता है।

२१७. मन ज्ञान का सागर है, वाणी ज्ञान की सरिता है।

२१८. मनन सब शास्त्रों के परिज्ञान को कूप के समान उत्स्यन्दित (ऊपर की ओर प्रवाहित) करता है।

२१९. जो अन्तिम की रक्षा करता है, वह अवश्य ही मध्य की भी रक्षा करता है।

२२०. पाप का हेतु होने के कारण अश्लील भाषण से प्रवक्ता का मुख दुर्गन्धित हो जाता है।

२२१. जुए से प्राप्त धन सत्कर्म के विनियोग में उपयुक्त नही होता।

२२२. मित्रो हि सर्वस्यैव मित्रम् ।

—३८।२२

२२३. निस्पृहस्य योगे अधिकारः।

—४०।१

२२४. यथा स्वर्ग प्राप्तौ नानाभूताः प्रकाराः सन्ति, न तथा मुक्तौ।

—४०।२

२२५. आत्मानं च ते घ्नन्ति, ये स्वर्गप्राप्तिहेतूनि कर्माणि कुर्वन्ति ।

—४०।३

२२६. आत्मसंस्कारकं तु कर्म ब्रह्मभावजनकं स्यात् ।

—४०।८

२२७. यो हि ज्ञाता स एव सः ।

केन उपनिषद्, शांकर भाष्य १।३

२२८. सत्यमिति अमायिता, अकौटिल्यं वाङ्मनः कायानाम् ।

—४।८

२२९ न तु शास्त्रं भृत्यानिव बलात् निवर्तयति नियोजयति वा ।

बृहदारण्यक उपनिषद्, शांकर भाष्य २।१।२०

२३०. बद्धस्य हि बन्धनाशायोपदेशः।

—२।१।२०

२३१. एतदात्मविज्ञानं पाण्डित्यम् ।

—३।५।१

२३२. सर्व प्राणिषु प्रतिदेहं देवासुरसंग्रामो ऽनादिकालप्रवृत्तः।

छांदोग्य उपनिषद्, शांकर भाष्य १।२।१

२३३. तृष्णा च दुःखबीजम् ।

—७।२३।१

२३४. क्रुद्धो हि संमूढः सन् गुरुं आक्रोशति ।

—गीता, शांकर भाष्य २।६३

२२२. मित्र (सूर्य) सबका मित्र है।

२२३. जिस प्रकार स्वर्ग प्राप्ति के नाना प्रकार होते हैं, उस प्रकार मुक्ति के नही, अर्थात् मुक्ति का एक ही प्रकार है—अनासक्त प्रवृत्ति।

२२४. निस्पृह साधक का ही योग मे अधिकार है।

२२५. जो केवल (परलोक में) स्वर्ग प्राप्ति के लिए कर्म करते हैं, वे अपनी आत्मा की हत्या करते हैं।

२२६ आत्मा को संस्कारित करनेवाला कर्म ही ब्रह्मभाव का जनक है।

२२७ जो उस (ब्रह्म) को जानने वाला है, वह स्वय वही है।

२२८. मन, वाणी और कर्म की अमायिकता एव अकुटिलता का नाम ही सत्य है।

२२९. शास्त्र अपने सेवको की तरह न तो किसी को जबर्दस्ती किसी काम से रोकता है और न ही किसी को किसी काम के लिए प्रेरित करता है।

२३०. बद्ध जीव के बन्धन का नाश करने के लिए ही उपदेश किया जाता है।

२३१. वस्तुतः आत्म-ज्ञान ही पाण्डित्य है।

२३२. प्रत्येक देहधारी प्राणी के भीतर देव-दानवो का सग्राम अनादिकाल से चला आ रहा है।

२३३. तृष्णा दुःख का बीज है।

२३४. मनुष्य क्रोध में मूढ (पागल) होकर गुरु (बड़े) को भी गाली बकने लग जाता है।

२३५ तावदेव हि पुरुषो यावदन्त:करणं तदीयं कार्याकार्यविषय-
विवेकयोग्यम् ।

—२।६३

२३६. इन्द्रियाणां विषयसेवातृष्णातो निवृत्तिः या तत् सुखम् ।

—२।६६

२३७. सम्यग्दर्शनात् क्षिप्रं मोक्षो भवति ।

—४।३६

२३८. दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्व मुमुक्षुत्वं महापुरुषसश्रय. ॥

—विवेकचूडामणि (शंकराचार्य) ३

२३९. चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभि. ॥

—११

२४०. ऋणमोचनकर्त्तार. पितु. सन्ति सुतादय. ।
बन्धमोचनकर्त्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन ॥

—५३

२४१. शब्दजालं महारण्य चित्तभ्रमणकारणम् ।

—६२

२४२. न गच्छति विना पानं व्याधिरौपधशब्दतः ।
विना परोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥

—६४

२४३ मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते,
वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु ।

—७१

२४४ शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पंच
पञ्चत्वमापु. स्वगुणेन बद्धा ।
कुरंग-मातग-पतग-मीन-
भृंगा नरः पञ्चभिरञ्चित. किम् ?

—७८

२३५ मनुष्य तभी तक मनुष्य है, जब तक उस का अन्तःकरण कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक कर सकता है।

२३६. विषय-सेवन की तृष्णा (लालसा) से इन्द्रियो का निवृत्त हो जाना ही वास्तविक सुख है।

२३७. यथार्थज्ञान प्राप्त होने पर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है—अर्थात् सम्यग् ज्ञान हो जाने पर मोक्ष दूर नही है।

२३८. मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व (मुक्त होने की इच्छा), और महान् पुरुषो का संग-ये तीनो भगवत्कृपा से प्राप्त होने वाली बड़ी ही दुर्लभ वस्तु हैं।

२३९. कर्म चित्त की शुद्धि के लिए ही है, वस्तूपलब्धि (तत्त्वदृष्टि) के लिए नही, वस्तु-सिद्धि तो विचार से ही होती है, करोड़ो कर्मों से कुछ भी नही हो सकता।

२४० पिता के ऋण को चुकाने वाले तो पुत्रादि भी हो सकते हैं, परन्तु भव-बन्धन से छुड़ाने वाला अपने से भिन्न और कोई नही है।

२४१. शास्त्रो का शब्द-जाल तो चित्त को भटकानेवाला एक महान् वन है।

२४२ औषध को बिना पिये केवल औषध शब्द के उच्चारण मात्र से रोग नही जाता, इसी प्रकार अपरोक्षानुभव (प्रत्यक्ष आत्मानुभूति) के बिना केवल 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कहने से कोई मुक्त नही हो सकता।

२४३. संसार की अनित्य क्षणभंगुर वस्तुओ मे अत्यन्त वैराग्य का हो जाना ही मोक्ष का प्रथम हेतु है।

२४४. अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शब्दादि पांच विषयो मे से केवल एक-एक से बँधे हुए हरिण, हाथी, पतंग, मछली और भौंरे जब मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तो फिर इन पाचो से जकडा हुआ मनुष्य कैसे बच सकता है ?

२४५. जाति-नीति-कुल-गोत्रदूरगं,
नाम-रूप-गुण-दोषवर्जितम् ॥
देश-काल-विषयातिवर्ति यद्,
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥

—२५५

२४६. लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनया ऽपि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥

—२७२

२४७. वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ।

—३१८

२४८. योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधो ऽपरिग्रहः ।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता ॥

—३६८

२४९. स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः ।

—३८९

२५०. अतीताननुसन्धानं भविष्यदविचारणम् ।
औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥

—४१३

२५१. अजातस्य कुतो नाशः ?

—४६२

२५२. सन्तु विकाराः प्रकृतेर्,
दशधा शतधा सहस्रधा वा ऽपि ।
किं मेऽसङ्कुचितेस्तैर्,
न घनः क्वचिदम्बरं स्पृशति ॥ —५१२

२५३. देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः ।
अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥

—५५९

२५४. निर्द्वन्द्वो निःस्पृहो भूत्वा विचरस्व यथासुखम् ।

—तत्त्वोपदेश (शंकराचार्य) ७९

२५५. विद्या ऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत् ।

—आत्मबोध (शंकराचार्य) ५

२४५. जो जाति, नीति, कुल और गोत्र से परे है, नाम, रूप, गुण और दोष से रहित है, तथा देश, काल और विषय से भी पृथक् है, तुम वही ब्रह्म हो—ऐसी अपनी अन्तः करण मे भावना करो ।

२४६. लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना—इन तीनो के कारण ही जीव को यथार्थ आत्मज्ञान नही हो पाता ।

२४७ वासना-क्षय का नाम ही मोक्ष है और यही जीवन्मुक्ति कहलाती है ।

२४८. वाणी को रोकना, धन का संग्रह न करना, आशा और कामनाओ का त्याग करना और नित्य एकान्त मे रहना—ये सब योग का पहला द्वार है ।

२४९. यह आत्मा स्वयं ही ब्रह्मा है, स्वयं ही विष्णु है, स्वयं ही इन्द्र है, और शिव भी स्वय ही है ।

२५०. बीती हुई बात को याद न करना, भविष्य की चिन्ता न करना और वर्तमान मे प्राप्त होने वाले सुख दु.खादि मे उदासीनता—यह जीव-न्मुक्त का लक्षण है ।

२५१. जिस का जन्म ही नही हुआ हो, उसका नाश भी कैसे हो सकता है ?

२५२. प्रकृति के दसियो, सैंकड़ो और हजारो विकार क्यो न हो, उनसे मुझ असंग चेतन आत्मा का क्या सम्बन्ध ? क्या कभी मेघ आकाश को छू सकता है, गीला कर सकता है ? कभी नही ।

२५३. देह का मोक्ष (त्याग) मोक्ष नही है, और न दण्ड-कमण्डलु का मोक्ष ही मोक्ष है । वस्तुत हृदय की अविद्यारूप ग्रन्थि (गाँठ) का मोक्ष (नाश) ही मोक्ष है ।

२५४. निर्द्वन्द्व और निःस्पृह होकर आनन्द से विचरण करो ।

२५५. विद्या अविद्या को वैसे ही नष्ट कर देती है, जैसा कि तेज (प्रकाश) अन्धकार समूह को नष्ट कर देता है ।

२५६. शरीरं सुखदुःखाना भोगायतनमुच्यते । —१२

२५७ न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मप्रकाशने ।

—२६

२५८. विषयेभ्य. परावृत्ति. परमोपरतिर्हि सा ।
सहन सर्वदु खाना तितिक्षा सा शुभा मता ॥

—अपरोक्षानुभूति (शंकराचार्य) ७

२५९. बुद्धिमते कन्या प्रयच्छेत् । —आश्वलायनीय गृह्यसूत्र १।५।२

२६० अश्मा भव, परशुर्भव ।

—१।१५।३

२६१ मम हृदये हृदय ते अस्तु, मम चित्ते चित्तमस्तु ते ।

—बोधायन गृह्यसूत्र १।४।१

२६२ महत्संगस्तु दुर्लभो ऽमोघश्च ।

—नारद भक्ति सूत्र ३९

२६३. तरगायिता अपीमे सगात् समुद्रायन्ति ।

—४५

२६४. कस्तरति कस्तरति मायाम् ?
यः सगांस्त्यजति, यो महानुभावं सेवते, यो निर्ममो भवति ।

—४६

२६५. अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम् । मूकास्वादनवत् ।

—५१-५२

२६६. तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि,
सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि । —६९

२६७. नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादिभेद. ।

—७२

२६८. वादो नावलम्ब्य. ।

—७४

२५६. शरीर सुख-दु:खो के भोग का स्थान है।

२५७. जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश के लिए दूसरे दीपो की अपेक्षा नही करता है, उसी प्रकार आत्मा को अपने ज्ञान के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नही होती है।

२५८ चित्त का समस्त विषयो से विमुख हो जाना ही परम उपरति (वैराग्य) है, और सभी आने वाले दु खो को समभाव से सहन करना तितिक्षा है।

२५९ बुद्धिमान् वर के साथ ही कन्या का विवाह करना चाहिए।

२६०. पत्थर बनो, परशु (कुल्हाडा) बनो ! अर्थात् पर्वत की चट्टान की तरह दृढ और परशु की तरह अन्याय-अत्याचार को खण्ड-खण्ड करने वाले बनो।

२६१. (आचार्य ब्रह्मचारी शिष्य को सम्बोधित करता है—) मेरे हृदय मे तेरा हृदय हो, मेरे चित्त (चिन्तन) मे तेरा चित्त हो।

२६२. महापुरुषो का समागम प्राप्त होना दुर्लभ है, प्राप्त होने पर आत्मसात् होना कठिन है, यदि एक बार आत्मसात् हो जाता है, तो वह फिर व्यर्थ नही जाता, निष्फल नही होता।

२६३ चित्त मे काम क्रोध आदि की तरंगे कितनी ही छोटी हो, दु:सग से बढ़ते-बढते एक दिन ये समुद्र बन जाते हैं।

२६४. माया को कौन पार करता है ? कौन पार करता है ?
जो सभी प्रकार की आसक्तियो को त्यागता है, जो अपने महान् गुरुजनो की सेवा करता है, जो निर्मम (ममतारहित) होता है।

२६५. गूंगे के रसास्वादन की तरह प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है।

२६६. सच्चे भगवद्भक्त तीर्थो को तीर्थत्व, कर्मो को सुकर्मत्व एवं शास्त्रो को सच्छास्त्रत्व प्रदान करते है।

२६७. सच्चे भगवद्भक्तो मे जाति, विद्या, रूप, कुल, धन एव क्रिया (आचार व्यवहार) आदि के कारण कोई भेद (द्वैत, ऊँचे नीचे का भाव) नही होता है।

२६८ भगवद्भक्त को वाद (किसी से कलह, कहासुनी, अथवा धार्मिक एव साम्प्रदायिक वाद-विवाद) नही करना चाहिए।
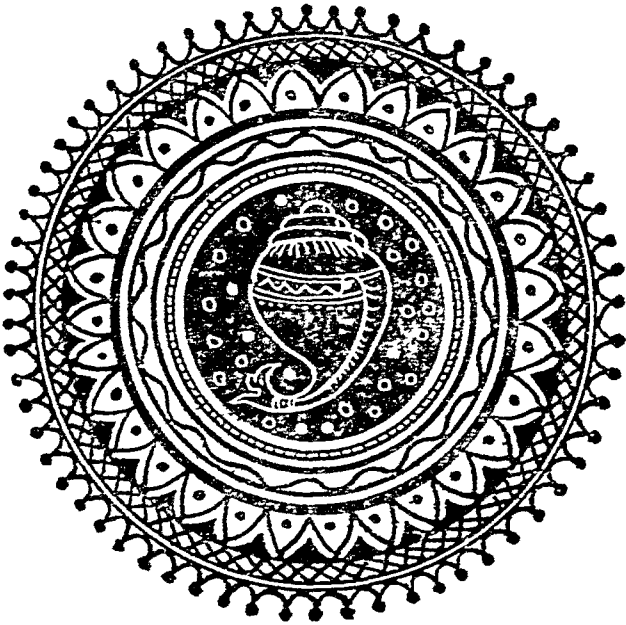
परिशिष्ट (३)

सू क्ति त्रि वे णी

वैदिक धारा की विषयानुक्रमणिका

—: वैदिक धारा के अन्तर्गत विषयों का अकारादि क्रम :—

अद्वेष
अतिथि सत्कार
अन्नदान
अन्न का महत्त्व
अनासक्ति
अमृत
अभय
असन्तुलन
असत्य
अहिंसा
अज्ञान
आत्म-स्वरूप
आत्म-ज्ञान (आत्म-विद्या)
आत्मा, परमात्मा
आत्मौपम्यता
आलस्य
आशीर्वचन
इन्द्र
उच्च संकल्प
उद्बोधन
उदार भावना
कर्तव्य बोध
कर्म (श्रम)
कृपणता
क्रोध
गौ
गुरुजन (गुरु माता-पिता)
गृहस्थ धर्म
गृहिणी
क्षमा
तत्त्वदर्शन
तप
तितिक्षा
तैजस् (अग्नितत्त्व)
दान
दिव्य शक्तियाँ
दुर्जन
दृढसंकल्प
धर्म
धर्माचरण
धैर्य, शौर्य
नीति
नेता
पञ्चामृत
प्रश्नोत्तर
प्रज्ञा
प्रार्थना
पारिवारिक सद्भाव
पुरुषार्थ
पुण्य-पाप
ब्रह्म
ब्रह्मचर्य
ब्राह्मण
मन
मनोबल
मानव जीवन
मातृभूमि
माधुर्य भाव
मूर्ख
मैत्री
मोक्ष
यज्ञ
योग
राजनीति
लोभ तृष्णा
वाणी
विद्वान्
विनय
विराट्ता
वैराग्य
शरीरधर्म
शिव संकल्प
श्रद्धा
सुख-दुःख
सत्य
सदाचार
सद्गुण
सन्तोष
सत्संग
सदुपदेश
सभाधर्म
संयम
सरलता
सामाजिक चेतना
सुभाषित
ज्ञान
ज्ञानी

१ सर्वत्र प्रथम अक पृष्ठ सख्या का एव द्वितीय अक सूक्ति सख्या का सूचक है ।

अज्ञान

आत्म-स्वरूप

आत्मज्ञान (आत्मविद्या)

आत्मा, परमात्मा

आत्मौपम्यता

आलस्य

आशीर्वचन

इन्द्र

उच्च संकल्प

उद्बोधन

उदात्त भावना

कर्तव्य बोध

कर्म (श्रम)

कृपणता

क्रोध

गौ

गुरुजन (गुरु-शिष्य-माता-पिता)

गृहस्थधर्म

गृहिणी

क्षमा

तत्वदर्शन

तप

तितिक्षा

तैजस् (अग्नितत्त्व)

दान

दिव्य शक्तियां

(देवता-सोम वरुण सूर्य आदि)

(मनु)

दुर्वृत्त

(द्यूत)

(निन्दा)

(अहंकार)

दृढ संकल्प

धर्म

धर्माचरण

धैर्य, शौर्य

नीति

नेता

पञ्चामृत

प्रश्नोत्तर

ब्राह्मण

मन

मनोबल

मानव-जीवन

मातृभूमि

माधुर्य भाव

मूर्ख

मैत्री

मोक्ष

यज्ञ (लोकहितकारी कर्म)

योग

राजनीति

लोभ-तृष्णा

वाणी

वाग् देवता

सत्य

सदाचार

सद्गुण

सन्तोष

सत्संग

सदुपदेश

सभाधर्म

सयम

सरलता

सामाजिक चेतना

सुभाषित

शरीर धर्म

शिव सकल्प

२६/११५-११६ ३०/१४२ ३८/१८८ ४८/२०६-२०७-२०८-२०९-२१०
६२/२७८ ७२/८ ७४/१५-१६ ७६/३१ ८०/४७ ८८/८०-८१-८२
८०/८४ ९२/९४ ९६/११७ ९८/११८-११९-१२० १२४ १२८/१०५
१४२/१६९-१७०

श्रद्धा

६२/२८५ ६४/२८६-२८७ ६४/२८८ ८६/७५ १५६/६७ १५६/७१-
७२ १६४/११८ २१२/९४-९५ २२८/१३३ २७०/३५-३६-३७ २७४/-
५७ २७६/६५

ज्ञान

४/५-६ १०/३७ १२/४९ १४/५४-५५ २०/८९-९० ३६/१६७ ५२/-
२४१ ८०/५४ ९२/९५ ९६/११२-११३ ९६/११५ ९८/१२१
१०४/८ १०८/१ १०८/४ ११४/३२ ११६/३७-३८ १२४/७८
१२४/८२ १३०/११३ १३२/११७-११८ १५०/३४ १५६/७० १५८/-
७९ १६८/१३० १७४/१९ १८२/६४ २१२/९२ २१२/८३ २२४/१५१
२६०/१०२ २६२/१ २६०/३३-३४ २८२/२८ २८४/३५ २८६/४३
२९२/७७-७८ २९६/१४-१५ ३१०/९२-९३ ३१६/१२० ३१८/१३८
३२६/१७४ ३२८/२३५ ३३८/२३७ ३४०/२५५.

ज्ञानी (साधक)

८/२८ १२-४७ ९८/१२२-१२३ १०६/२२ ११८/४८-४९ १२८/-
१०८ १५०/४०-४१ १५४/६३ १५६/७४ १६०/९१ १६४/१११
१७२/१७-१८ १८२/६३ २२०/१३१ २५०/४९ २५२/५९-६० २६८/-
३०-३१ २७०/३८ २७४/५४ २७६/६८ २९२/७८ ३०२/४८
३०४/५२ ३२०/१३९-१४० ३२०/१४९